समता के स्वर ग्रन्थांक-१४

मंगल वाणी

प्रवचनकार—

समता-विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.



सम्पादक—

श्री शान्तिचन्द्र मेहता



प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

गंगाशहर-भीनासर

★ प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

गंगाशहर-भीनासर

★ प्रथम-संस्करण—१००० (सन् १९८१)

★ मूल्य ६)

★ मुद्रक

जैन आर्ट प्रेस

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन श्रावक संघ द्वारा संचालित

समता भवन, रामपुरिया मार्ग

बीकानेर (राज०)

पिन-३३४००१

प्रकाशकीय

'सन्त हृदय नवनीत समाना' की जगत् प्रसिद्ध उक्ति को चरितार्थ करते हुए परम श्रद्धेय चारित्र चूडामणि, समता विभूति, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिवोधक, बाल ब्रह्मचारी आचार्य प्रवर पूज्य श्री श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. ने अपने शिष्य वृन्द सहित संवत् २०३४ का चातुर्मास गंगाशहर–भीनासर मे करने की हमारी विनंति को स्वीकार किया। संत–महात्माओं का किसी नगर ग्राम में पधारना अत्यन्त मंगल सूचक होता है और जब वे किसी स्थान के लिए चातुर्मास करने की स्वीकृति प्रदान करदें तब तो वह उस क्षेत्र के लिए परम सौभाग्य का विषय होता है। हम भी इस सौभाग्य को प्राप्त कर गौरवान्वित हुए तथा समीपस्थ क्षेत्रो के धर्मानुरागी श्रावक–श्राविका वृन्द भी धर्म लाभ प्राप्त कर अत्यन्त आह्लादित व कृतार्थ हुए।

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री नानालाल जी म. सा. आज आध्यात्मिक जगत में सूर्य के समान प्रखर तेज के साथ देदीप्यमान हो रहे हैं। श्रमण संस्कृति के अनुशीलन, संरक्षण एवं उन्नयन मे आपश्री का योगदान अभूतपूर्व है। एक आचार्य परम्परा का अद्‌भुत नेतृत्व प्रदान कर आपश्री ने सिद्ध कर दिया है कि चतुर्विध संघ मे भी ऐच्छिक अनुशासन के माध्यम से सजग क्रियाशीलता स्थापित की जा सकती है।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के समुन्नत साधक के रूप मे परम पूज्य आचार्यश्री ने अपने दीर्घ दीक्षा काल मे महान् धर्म–यश का अर्जन किया है। समूचे साधु–समाज के लिए आपश्री एक अतुलनीय आदर्श हैं। आपश्री के तपोपूत तेजस्वी व्यक्तित्व का ही यह सुप्रभाव है कि अब तक १६६ मुमुक्षु आत्माओ ने आपश्री से भागवती दीक्षा ग्रहण करके त्याग मार्ग पर प्रयाण प्रारम्भ कर दिया है।

परम पूज्य आचार्य श्री जी म. सा. वीतराग वाणी के अधिकारी प्रवक्ता हैं तथा आपश्री की निर्मल प्रवचन धारा मे अवगाहन कर भव्य आत्माएं अपने को धन्य मानती है। आपका एक–एक वचन आत्म–ज्ञान की दृष्टि से सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय के लक्ष्य से युक्त होता है।

अतः जब गंगाशहर–भीनासर में परम पूज्य आचार्य श्री जी म. सा.

का चातुर्मास होना निश्चित हो गया तो 'श्री गंगाशहर–भीनासर साधुमार्गी जैन श्रावक संघ' ने चातुर्मास की सुव्यवस्था हेतु अनेक प्रकार की समितियाँ बनाईं, जिनमें से 'प्रवचन प्रकाशन समिति' भी एक थी। मुझे इस समिति का संयोजक बनाकर यह दायित्व सौंपा गया कि परम पूज्य आचार्य श्रीजी की पीयूष वाणी का प्रसाद स्थानीय जनता के साथ ही सुदूर क्षेत्रों में बैठे हुए धर्मनिष्ठ जनों तक भी पहुंचाया जावे, जिससे अधिकाधिक लोग आचार्य श्रीजी के वचनामृत का पान कर अपने जीवन को पुनीत और सात्विक बना सकें। इस कठिन किन्तु पवित्र दायित्व की पूर्ति में आत्मिक आनन्द हिलोरें ले रहा था। अतः आचार्य श्रीजी की वाणी को शीघ्रातिशीघ्र आप सभी तक पहुंचाने के लिए 'समता के स्वर' ग्रन्थमाला का यह १४ वां पुष्प प्रकाशित किया गया है। आचार्य श्रीजी के प्रवचनों का कुछ भाग श्रमणोपासक में स्फुट रूप से प्रकाशित हो चुका है और प्रस्तुत पुस्तक में ये सग्रथित रत्न रूपी प्रवचन मुद्रित हैं, इन्हें आपके हाथों में सौंपते हुए हमें सुखद गौरव का अनुभव हो रहा है। इसी क्रम में दूसरी पुस्तक प्रकाशनाधीन है और आशा है कि उसे भी हम आपके हाथों में शीघ्र ही सौंपने में सफल होंगे।

इस शुभावसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दें कि इन प्रवचनों के प्रकाशन, मुद्रण या किसी अन्य प्रबन्ध से परम पूज्य आचार्य श्री जी म. सा. का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इस संकलन में कोई भी शब्द या वाक्य असंगत में आ गया हो अथवा मूल भाव से कहीं कोई अन्तर दिखाई दे तो उसके लिए हम ही उत्तरदायी हैं। गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उनके प्रकाशन, मुद्रण एवं प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलों को स्वीकार करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

विश्वास है यह पुस्तक आपकी आत्मोन्नति के मार्ग में पथ प्रदर्शक सिद्ध होगी।

विनीत

चम्पालाल डागा

संयोजक

प्रवचन प्रकाशन समिति

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ

गंगाशहर–भीनासर

सम्पादकीय वक्तव्य

समता के स्वरों का समरस-संगीत भला कौन नहीं सुनना चाहेगा ? उसके एक-एक स्वर से फूटने वाली ध्वनि मनुष्य की अंतरात्मा का सुखद स्पर्श करती है। मानव की यह चिरकालीन कामना रही है कि उससे समग्र समाज में सबके लिए समता का स्तर ही सर्वमान्य स्तर बने। मानव-समाज गुणाधारित हो, अर्थाधारित नही-जैसा कि आज है।

दार्शनिकों और इतिहासवेत्ताओं ने मानवीय समता की अपने उदात्त विचारो एवं तथ्यात्मक विश्लेषणो से सदा ही पुष्टि की है। जैन दर्शन में समस्त आत्माओ को मूल मे सम-स्वरूपी माना गया है, चाहे वे संसारी हो या सिद्ध। कोई भी आत्मा जब अपनी गुणशीलता का सर्वोच्च विकास साध लेती है तो वही परमात्मा बन जाती है। परमात्मा किसी पृथक् तत्त्व के रूप न सृष्टि को रचता है, न पालता है और न उसका संहार करता है। चेतन और जड तत्त्वों की सम्मिश्रित इस सृष्टि में आत्मा ही अपनी नियति की स्वयं कर्त्ता एवं स्वयं फलभोक्ता होती है। इसलिए वही समता की स्थापना भी कर सकती है। इतिहासवेत्ता भी यही कहते है कि आदिम काल से लेकर आज तक मानव जाति ने जो विकास किया है, वह राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो में उसके समता-प्राप्ति के संघर्ष का पुनीत इतिहास हैं।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के प्रवचनों की भी यह परम विशिष्टता है कि उनमे सर्वत्र समता-दर्शन की झलक दिखाई देती है। प्रस्तुत संग्रह में आचश्री के २४ प्रवचन सम्पादित रूप में प्रकाशित किए जा रहे है। इनमे समता-दर्शन के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक रस की अमृत-धारा प्रवाहित है, जो मानव-जीवन को सार्थक बनाने हेतु प्रेरित करती है तथा मार्गदर्शन भी करती है। यह अमृत-वाणी किसी एक देश, जाति अथवा सम्प्रदाय के लिए उपयोगी न होकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सत्य से अनुप्राणित है।

एक परम प्रतापी वक्ता के रूप मे आचार्य श्री की प्रवचनात्मक अमृत-धारा जब प्रवाहित होती है तो वह श्रोताओं के हृदय को भावाभिभूत बना देती है। यह पाठको की अपनी अनुभूति होगी कि उन्हीं प्रवचनों की मेरे द्वारा

किए गए सम्पादन में वे कितनी प्रभाव-साम्यता पाते हैं ? वैसे मेरा सम्पूर्ण प्रयत्न यह रहा है कि सम्पादन में मैं अधिक से अधिक आचार्यश्री की ही मौलिक भाषा, भाव तथा शैली का निर्वाह करूँ । इस सम्पादित संकलन में पाठकों को जो श्रेष्ठता दृष्टि में आवे, वह श्रेष्ठता निश्चित रूप से आचार्यश्री की प्रवचन-धारा की है किन्तु भाषा, भाव और शैली सम्बन्धी कहीं जो भी दोष दिखाई दे, उसका पूरा उत्तरदायित्व सम्पादक का है ।

मेरी हार्दिक कामना है कि प्रस्तुत प्रवचनों से प्रबुद्ध पाठक प्रेरणा ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बनायें ।

शान्तिचन्द्र मेहता

कुंभानगर, चित्तौड़गढ़ — एम. ए., एल-एल. बी., एडवोकेट

समता विभूति, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक

चारित्र चूड़ामणि–बालब्रह्मचारी

परम पूज्य आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

के

पावन चरण–कमलों

में

सादर–समर्पित

अनुक्रमणिका

३. चरण-सेवा की शुद्ध विधि
२. सेवा धर्म की गहनता
३. सत्य का अनेकान्तवादी स्वरूप
४. शुद्ध सम्यक्त्व : आत्म-जागृति का आधार
५. आत्मानुभूति में ढली शास्त्रीय वाणी
६. शास्त्रीय वाणी की वैज्ञानिक उत्कृष्टता
७. आत्मा का ऊपर उठना है, वही धर्म है
८. धर्म और कर्त्तव्य का साम्य तथा भेद रेखा
९. हुं रागी, तू निरागी, मिलणो किम होय
१०. पहले ज्ञान और फिर क्रिया
११. मन-मधुकर और पद-पंकज
१२. मन को कैसे परखें ?
१३. नाना विध वेदनाएं और शांति की अनुभूति
१४. पाप-पुण्य के प्रसंग से मन का परीक्षण
१५. निर्ग्रंथ-संस्कृति और शांत क्रांति
१६. द्वेष को कैसे जीतें ?
१७. अभेद वृत्ति : आनंद की धारा
१८. घाणी के बैल का चक्कर या छुटकारा
१९. कपड़ों की तरह अपने को धोइए
२०. पुण्य : एक विवेचन
२१. धर्ममय दीपावली का पवित्र वायुमण्डल
२२. निर्वाण और ज्योति
२३. मंगल वाणी
२४. सत्पुरुषार्थ परमात्म तक

चरण-सेवा की शुद्ध विधि

विमल जिन दीठा लोयण आज............

परमात्मा की चरणसेवा के लिये भव्य जनो का मन, मयूर की तरह नृत्य करने लगता है। एक भव्य जन चाहता है कि मैं प्रभु की चरण-सेवा करू। लेकिन यह चरण सेवा किस तरीके से की जाय ? उसकी कौन-सो विधि है कि जिस विधि से—जिस रीति से तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन और देवो से भी अशक्य, परमात्मा की चरणसेवा वह मानव कर सके ? जिज्ञासु व्यक्तियो का जब ऐसा प्रश्न खडा होता है तो समाधान देने की दृष्टि से उत्तर भी आता है।

विधि से साधना, चरण-सेवा की आराधना

किसी का कहना है कि प्रभु की सेवा करने का सुगम मार्ग विविध प्रकार की क्रियाओ का अनुष्ठान है, विविध प्रकार के तपो की साधना है तथा अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान हैं। उस प्रकार के तपो की आराधना करेंगे, त्याग, व्रत, प्रत्याख्यान अपनायेंगे तो परमात्मा की सेवा मिल जायगी।

लेकिन कवि संकेत देता है कि क्रियाओं की बात कहने वाले अनेक मिल जायेंगे, पर फल की बात कहने वाले विरले ही मिलेंगे ।

शरीर से क्रिया करना सहज है, परन्तु मन की गतिविधि को पहिचानना तथा उसको स्वाधीन बनाना सहज नही है । एक पुरुष सर्वस्व का त्याग करके परिवार एवं सज्जन-स्नेहियो से अलग होकर उग्र से उग्र तप-साधना करता है—कठोर से कठोर क्रियाओ का अनुष्ठान करता है । स्पष्ट दिखाई देता है कि वह शरीर की दृष्टि से कठोर कष्ट उठा रहा है और शरीर को तपा रहा है । वह भर गर्मी के दिनो मे मध्याह्न के समय तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के नीचे अपने आपको खड़ा कर लेता है और सूर्य की आतापना लेता है, जिसके कारण उसके शरीर की चमड़ी जलकर काली हो जाती है । प्रात-काल के समय मे भी वह अनेक तरह की प्रक्रियाएं करता है तो शीत ऋतु की कड़कड़ाती ठंड वाली मध्य रात्रि मे निर्वस्त्र होकर उस कठिन शीत को सहन करता है । उग्रतम तप का अनुष्ठान करने के लिये वह महीने भर का अनशन तप करके पारणा करता है और पारणे के दिन भी पेट भर भोजन नही करता, बल्कि एक डाभ के तिनके के अग्रभाग पर जितना भोजन आवे, उतना सा अन्न ग्रहण करता है । लोग देखकर आश्चर्य करते हैं कि वह कितना घोर तपस्वी है ! वह अपने शरीर को कुछ नहीं समझता ।

तो क्या इतनी कठिन साधना करने वाला तपस्वी तो अवश्य ही मोक्ष में जायगा ? जिन लोगो के देखने के चक्षु बाहरी है, वे तो इस बाहरी दृश्य को देखकर अवश्य ही चकित रह जायेगे लेकिन ज्ञानीजन कहते है कि ऐसे कठोर तपस्वी के विषय मे भी पहली बात देखने की यह है कि उसके पास स्वस्थ मानसिक धरातल का सम्बल है अथवा नही ? उसके मन की गति-विधि क्या है तथा उसका अपने मन पर निग्रह कैसा है ? किस ज्ञान एवं विचारणा की धारा के साथ वह चल रहा है ? इन तथ्यो का आन्तरिक अनु-संधान करने के बाद ही यह निर्णय दिया जा सकता है कि उसकी यह कठोर तपस्या कितनी या किन अंशो तक सार्थक है । यह निर्णय भी इसी कसौटी पर दिया जा सकता है कि वह भगवान् की आज्ञाओं की आराधना करता हुआ किस रूप में और कितनी सम्यक् चरण-सेवा कर रहा है ?

मूल प्रश्न है—विधि का । विधिपूर्वक यदि साधना नहीं है तो चाहे वह कितनी ही कठोर साधना क्यों न हो, वह आत्मा [illegible] गुणकारी नहीं होती है । जब तक सम्यक् ज्ञान का प्रकाश न हो और सही विधि की जानकारी नहीं कर

ली जाय, तब तक कोई चाहे कठोरतम क्रियाएं करता हुआ दिखाई दे रहा हो, वह भगवान् की आज्ञा की छाया तक भी नही पहुच सकता है। भगवान् की चरणसेवा तो दूर रही—वह उसके मर्म को भी समझ नही पाएगा। इसलिये आवश्यक यह है कि भगवान् ने साधना की जो विधि बताई है, उस विधि के अनुसार साधना की जाय और उस विधि को शुद्ध से शुद्धतर और शुद्धतम बनाते रहे, तब चरणसेवा का काय सम्पन्न हो सकता है।

सम्यक् ज्ञान के साथ सम्यक् क्रियाओं की साधना :

कोरी क्रिया काम की नही होती, जब तक उसकी पृष्ठभुमि मे ज्ञान का प्रकाश न हो और बिना सम्यक् हुए ज्ञान तथा क्रिया भ्रामक भी हो सकते हैं एवं मिथ्या भी-जो स्वस्थ साधना के विरोधी होते है। इसलिये शुद्ध विधि यह है कि सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि की जाय और उसके प्रकाश मे सम्यक् क्रियाओ की साधना की जाय। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् क्रिया का ही निर्देश वीतराग देवो की वाणी मे मिलता है, जो सम्यक् दर्शन पर मूलाधारित होता है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य यही रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग कहा गया है।

इसलिये महावीर प्रभु ने अपृट्ठ वागरणा के अन्तर्गत उद्घोषणा की है कि—

> मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
> न सो सुयक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥ उ० ६–४४

जब किसी ने प्रश्न पूछा कि प्रभु की आज्ञा की आराधना कौन कर सकता है तथा कौन परिपूर्ण रूप से उनकी चरणसेवा कर सकता है ? क्या वह साधक, जो मास-मास का अनशन तप करने और पारणे मे कुशाग्र जितना मात्र अन्न लेते हुए चल रहा है, प्रभु की आज्ञा की परिपूर्ण आराधना करने वाला कहलायगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया कि मास-मास खमण का पारणा करने वाला यदि मेरे श्रुत धर्म की आराधना सही तरीके से नही कर रहा है तो यही माना जायगा कि वह मेरी आज्ञा की सही विधि से साधना नही कर रहा है। फिर प्रश्न किया गया कि यह मान लेने पर भी वह आपकी आज्ञा की परिपूर्ण विधि से साधना नही कर रहा है, चन्द्रमा की न्यूनाधिक कलाओं के अनुसार भी क्या उसको आपकी आज्ञाओ का आराधक नही माना जायगा ? चन्द्रमा की १६ कलाए होती हैं तो वह १६ कलाओ के समान नही तो १५, १४,

५, ३, २ या १ कला के समान तो आराधक हो सकता है या नही ? शास्त्रीय गाथा के माध्यम से भगवान् ने इसका भी उत्तर दिया है । भगवान् का कथन है कि वह साधक जो सही ज्ञान और सिद्धान्त के साथ अपने जीवन को चलाता है तथा वीतराग वाणी को तथैव मानता है, उसकी साधना स्वस्थ विधि की मानी जायगी । शारीरिक दृष्टि से जितनी साधना हो सकती है, उतनी ही साधना वह करता है, लेकिन मन को साध कर चलता है और उसके साथ अहंकार के भाव को कतई नहीं आने देता है । वह न सोचता है और न दिखाता है कि मैं बहुत बड़ा साधक हूं या बहुत बड़ा तपस्वी हूं । इसकी बजाय उसका विचार तो ऐसा रहता है कि इस ससार मे महान् तपस्वी हुए हैं तथा वर्तमान मे विचर रहे हैं, उनके मुकाबले में मेरी क्या तपस्या है ? मेरे भीतर की शक्ति का तो बहुत कुछ जागरण करना शेष है । मैं तो सामान्य तपस्या ही कर पाता हूं । धन्य है वे तपस्वी जो बाह्य एव आभ्यन्तर तप की आराधना से निरन्तर अपने आत्मस्वरूप को उज्ज्वल बनाते रहते हैं । मैं तो मात्र उनकी महानता का अनुगामी बनना चाहता हूं । ऐसी विनम्र भावना एक साधक और तपस्वी की होनी चाहिये ।

अतः भगवान् की चरण-सेवा की विधि यह हुई कि भगवान् के चरण रूप श्रुत एवं चारित्र्य धर्म की आराधना सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् क्रिया के साथ की जाय, जिसमे निरहंकार एवं विनम्र वृत्ति मुख्य हो ।

ज्ञानहीन क्रिया सदैव निष्फला :

सम्यक् ज्ञान के साथ यथाशक्ति क्रिया करने वाला साधक जब निरहंकार वृत्ति के साथ साधनारत होता है तो वह यथार्थ रूप से आज्ञाओं की आराधना के पथ पर चल पडता है । इस प्रकार की भावना रखकर साधना करने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुसार अनशन तप करता है अथवा नही भी करता है, फिर भी सही ज्ञान एव सही श्रद्धा से संयुक्त होने के कारण वह सच्चा आराधक कहला सकता है । जो शास्त्रो का समीचीन अर्थ करता है—तोड़ मरोड़ की चेष्टा नहीं करता, वह सानक या श्रावक गगवान् की आज्ञा को सोलह ही कलाओं की आराधना करता है । उसकी तुलना में केवल महीने-महीने भर की तपस्या करने वाला-शरीर को सुखा करके उठर बना देने वाला तपस्वी भी सही ज्ञान और सही श्रद्धान के अभाव मे सोलह नरा, एक कला का भी सही आराधक नहीं होता है । ज्ञानहीन क्रिया सदैव निष्फल ही रहती है । कहा भी है—

इया अन्नाउफोरिया । निशीथावश्यक भाष्य गा० ११५९ ।

एक ज्ञानवान साधक भावना एवं विवेक के साथ निर्देशित क्रिया का अनुसरण करता है तथा उसके साथ उसका मनोबल होता है। ज्ञान और मनो-निग्रह के विना क्रिया का स्वरूप फलदायी नही बनता । यह तथ्य शास्त्रो में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है । इसी बात का लेकर कवि का भी सकेत है—

एक कहे सेविये विविध क्रिया करी,
फल अन्त लोचन न देखे ।
फल अनेकान्त किरिया करी बापडा,
रडवडे चार गति मांही लेखे ।।

कई साधक कहते हैं कि हम तरह-तरह की क्रियाएं करके भगवान् की चरण सेवा करेंगे । इस प्रकार की कोरी क्रियाएं करते हुए भगवान् की चरण सेवा करने वाले वास्तव मे भगवान् की चरण सेवा को समझते ही नही हैं । वे फल की इच्छा तो करते हैं, लेकिन वैसी क्रिया का भला क्या फल होगा ? जव वैसी क्रियाओ से आत्मशुद्धि नही होगी तो बिना आत्मशुद्धि के वे मोक्ष के अधिकारी कैसे वन सकते हैं ? जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि एक साधक की समस्त क्रियाओ और समस्त तपाराधना का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होना चाहिये । क्रियाओं और तपाराधना का फल होना चाहिये कर्मों की निर्जरा, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्णतया कर्मों के क्षय कर लेने पर मोक्ष की सिद्धि हो जाय।

एक ज्ञानवान एवं सत्क्रियाशील साधक का यह चिन्तन होना चाहिये कि मेरी समस्त आध्यात्मिक क्रियाएं तथा तपाराधना आत्मशुद्धि के लिये हैं, न कि लोक-परलोक की किसी लालसा पूर्ति के लिये और न ही मेरी अहकार पुष्टि के लिये । मैं सिर्फ अपने आत्मस्वरूप पर लगे हुए पापो को धोने के लिये ही तपस्या कर रहा हू—किसी पर कोई अहसान नही कर रहा हू । ऐसे चिन्तन के साथ जव लक्ष्य स्पष्ट रूप से सामने होता है तो साधक की तपस्या निष्फल भी नही जाती और वह अपनी साधना से डोलायमान भी नही होता है । जो आत्मशुद्धि के फल को एकान्त रूप मे न देखकर सिर्फ क्रिया और अनुष्ठान तक ही अपनी लक्ष्य दृष्टि को सीमित कर लेता है एव विविध क्रियाओ, विविध फल को देखता है तो ऐसा साधक न तो अपने आत्मस्वरूप का अव-लोकन कर सकता है और न भगवान् की सच्ची चरण सेवा ही कर सकता है ।

आत्मशुद्धि का अभाव, चतुर्गति का भटकाव

यदि एक साधक का लक्ष्य आत्म-शुद्धि का नहीं है तो उसकी सारी

क्रियाओं और तपाराधना का यही फल निकलेगा कि वह चारों गतियों में भटकता ही रहे। इसका कवि ने ही संकेत दे दिया है—

> फल अनेकान्त किरिया करी बापडा,
> रड़वडे चार गति मांही लेखे।

यह 'बापड़ा' शब्द बेचारे के रूप मे प्रयुक्त किया गया है। वह बेचारा चतुर्गति संसार मे रुलने वाला बनेगा। जो कष्टप्रद क्रियाएं वह कर रहा है, उसको उनका ज्यादा से ज्यादा पुण्यफल हो जायगा, लेकिन उसको आत्मसिद्धि प्राप्त नही होगी।

इसलिये साधक को सम्बोधित किया गया है कि हे साधक, तुम इस लोक या परलोक की किसी कामनापूर्ति के लिये तप मत करो, केवल आत्म-शुद्धि की भावना से तप करो। इस लोक की कामना क्या है? धन मिले, वैभव मिले या तपस्वी होने को यशकीर्ति मिले और दुनिया मे वाहवाही हो। ऐसी कामनाएं इस लोक की कामनाए होती हैं और इन कामनाओ को लेकर तप नही किया जाना चाहिये। किसी ने भगवान् से पूछा—क्या परलोक के लिये तो तप करें? सभी परलोक को सुधारने की बात कहते हैं तो क्या पर-लोक के लक्ष्य को लेकर तप किया जाय? परलोक सुधारने का तात्पर्य तो इतना ही है कि यहां से अवसान करके देव बनें। देवलोक परलोक है, जहां तरह-तरह की ऋद्धि-सिद्धियां और पांचो इन्द्रियो के मनोज्ञ विषयो की प्राप्ति होती है। यदि इस लालसा से कोई तप करता है तो भगवान् निषेध करते हैं कि इस कामना से भी तप मत करो। इस प्रकार सोचकर तप करते हैं कि इससे परलोक मे स्वर्ग मिलेगा तो तुम्हारी यह भावना संसार की भावना है, मोक्ष की भावना नही है और आत्मशुद्धि की भावना नही है। यह अशुद्ध भावना है, इसलिये लोक-परलोक की किसी भी कामना-पूर्ति के लिये तप मत करो। इस संसार मे और परलोक मे मेरी कीर्ति हो—इस कामना से तप मत करो। कहा भी गया है—

> "नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।"[1]

आखिर शिष्य ने पूछा—फिर तप किसलिये किया जाना चाहिये? उत्तर दिया गया कि नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ये यानी एकान्त रूप

---

[1] [illegible]—९, ४ दशवैकालिक सूत्र—९-४

से कर्मों की निर्जरा के लिये ही तप किया जाना चाहिये, केवल आत्मशुद्धि के लिये किया जाना चाहिये। जो आत्मशुद्धि मात्र का लक्ष्य लेकर तप करता है, वही मेरी आज्ञा की सच्ची आराधना करता है।

लेकिन जो अज्ञानी है, वह आत्मशुद्धि को नही समझता तथा आत्मशुद्धि की सही विधि को भी नही पहिचानता है। इसलिये वह ससार मे विविध तप करता हुआ अपने आपको उस रूप मे प्रख्यात करता है। यद्यपि यह स्थिति मन की है और अपने मन की स्थिति का आकलन स्वयं साधक कर सकता है अथवा उसको ज्ञानी ही देख सकता है। साधारण व्यक्ति सामान्यतया दूसरे के मन के भावो को नही जान सकता है। किन्तु ऐसा भी नही है कि वह उनसे सर्वथा अनभिज्ञ ही रहता हो। अपने ज्ञान और अनुभव की सीमाओ के साथ वह अनुमान अवश्य लगा लेता है। भगवान् ने वह रास्ता भी बताया है। साधारण व्यक्ति भी मन के भावो को ठीक तरह से समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति के मन मे कौनसा विचार चल रहा है और उसका विचार ऊंचा-नीचा कैसा चल रहा है? कभी-कभी शास्त्रो के वचनों को सुनकर मन मे कल्पना आती होगी कि ऐसा कठोर तप विरले ही कर सकते हैं, फिर महाराज ने यह क्या कह दिया? कुछ भी कह देना महाराज के हाथ की बात नही है। महाराज तो भगवान् की ओर से मुनीम हैं। तनख्वाह नही लेते हैं, लेकिन भगवान् की वाणी को ईमानदारी के साथ बताना उनका कर्त्तव्य है। जनता को भगवान् की आज्ञा की वास्तविक वस्तु स्थिति का भान नही होता है तो वह धोखा खा जाती है और आत्मकल्याण के बदले अकल्याण हो जाता है। इसलिये भगवान् की ओर से कुछ उत्तरदायित्व लेकर चलने की भावना है। जो बात स्पष्ट शब्दो मे भगवान् ने कही है, उसको कहने मे संकोच नही करना चाहिये। व्यक्ति सकोच मे आकर या किसी भय से शास्त्रों का सही विवेचन नही करता है तो यह बहुत बड़ा अपराध है। भगवान् की आज्ञा की ठीक विवेचना नही करना उनकी आसातना है।

भगवान् की आज्ञा है कि आन्तरिकता को पहिचानो

भगवान् की आज्ञा है कि बाहर की अवस्था को देखकर भ्रम मे मत पडो, बल्कि आन्तरिकता को पहिचानो और इसके लिये गुरुजनों का स्पष्ट वक्ता होना भी अनिवार्य है। प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि तू स्पष्ट कहने से क्यो डरता है? 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न बुद्धि होती है। ग्रहण करने की जिसके मानस मे जैसी जागृति होगी, वैसा ही वह

ग्रहण करेगा। यदि सही तरीके से ग्रहण करने की भावना है तो सही तरीके से ग्रहण करेगा और भावना गलत होगी तो गलत तरीके से ग्रहण करेगा। आकाश से तो शुद्ध पानी गिरता है, उसे गन्ने का पौधा ग्रहण करता है तो वह मीठा रस बन जाता है और अफीम का पौधा ग्रहण करता है तो जहर बन जाता है। कहा है--जैसी संगत वैसी रंगत।

कहने का तात्पर्य यह है कि तप करने वाले को भी आन्तरिकता को पहिचाने की आवश्यकता है। भगवान् ने विशद् विवेचन किया है कि जो दिखावटी तरीके से या किसी कामना के लिये क्रिया व तप करता है वह संसार में रुलता है। बाहर से दिखाई देने वाले एक तपस्वी की आन्तरिकता की पहिचान सामान्य तरीके से भी हो सकती है। एक व्यक्ति मन में क्या कुछ कल्पना को लेकर चल रहा है--वह चाहे उसको कितना ही छिपा कर रखे लेकिन उस कल्पना का पता एक न एक दिन चल ही जाता है।

तरुणाई में ही प्रबल संयम भावना के कारण परिवार, पत्नी व संसार को त्यागकर एक व्यक्ति दीक्षित हो गया। साधक बनकर वह कठिन तपस्या करने लगा। लोग उसकी सराहना करने लगे कि वह बड़ा त्यागी है, तपस्वी है। जिस रोज उसने पत्नी को छोड़ा, उसके बाद उसने कभी भी न तो पत्नी को देखा और न अपने गांव में ही पैर रखा। वह बहुत दूर-दूर प्रदेश में विचरता था। एक दिन उसके गांव का एक भाई उसके पास पहुंचा और उसको सूचना दी कि आपकी पत्नी सदा आपके दर्शन या सन्देश को पाने के लिये तरसती रही और अब उसका देहावसान हो गया है। यह सुनकर उस साधक के मुंह से निकला कि झंझट मिटा। पास में एक भक्त बैठा हुआ था। उसने यह सुनकर सन्त की तारीफ की कि कितना बड़ा त्यागी है, लेकिन पास ही एक चतुर व्यक्ति भी बैठा हुआ था, तारीफ सुनकर वह हंस पड़ा। यों हंस पड़ने का कारण पूछने पर उसने कहा कि त्यागी तो हैं लेकिन आज तक इनके मानस में कोई झंझट था जो आज छूटा है। पत्नी तो इन्होंने छोड़ दी थी लेकिन वह इनके मानस में अब भी बैठी हुई थी। सन्त ने यह बात सुनी तो जान पड़ा कि वास्तव में उसकी बड़ी कमजोरी थी।

जो मन के भीतर है [illegible] और [illegible] है, [illegible] हो ही जाती है। एक तपस्वी बाहर से तपस्या कर रहा है, लेकिन मन में

क्या विचार रख कर चल रहा है—उसकी झलक प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। जिस तपस्वी के मुंह से अहंकार या क्रोध की बात निकलती है कि मैं तपस्वी हूं, ऐसा करो वरना मैं ऐसा कर दूंगा तो उससे डरने की जरूरत नहीं है। ऊपर से भले ही वह साधु हो, लेकिन धोखे मे भरा है। उसके अन्दर में पाप और हिंसा है। वह मत्र और तत्र से डराता है और मन मे क्रूरता रखता है तब साधु कैसा हुआ? भगवान् ने कहा है कि जो मत्र–तंत्र को पकड़ता है, वह पापी है। मनुष्य यदि पत्थर रूपी रत्नों की पहिचान कर लेता है तो व्यक्ति और साधक की पहिचान क्यों नही कर सकता? भगवान् की आज्ञा है कि आन्तरिकता को पहिचानो।

मुनियों का मार्ग कठोरतम होता है

भगवान् की आज्ञाओ के अनुसार मुनियो का मार्ग कठोरतम होता है। भगवान् की चरण सेवा केवल तप करने से ही नही होती है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् आचरण, सरलता, नम्रता, कोमलता, निर्मयता, निरहंकार वृत्ति, प्रपंच–मुक्ति आदि कई सद्गुण हैं, जिनकी उपलब्धि का पुरुषार्थ कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। मुनि को परोपकार की दृष्टि से भी यह नहीं कहना होता है कि आप अमुक चन्दे मे इतने रुपये लिखाओ। अगर साधु उस पर दवाव डालता है तो यह साधुत्व की वात नही है। साधु को तो सांसारिकता से एकदम अलग–थलग हो जाना चाहिये। चन्दा देने के लिये कहना तो अलग, उसके सामने कोई चन्दे के लिये किसी पर दवाव डाले और उससे देने वाले की गृहस्थी संकटग्रस्त हो तो वह भी उचित नहीं है। साधु की उपस्थिति मे यदि आप चन्दा करते हैं और साधु कुछ नही कहता है तो देने वाले को साधु का भी दवाव समझ में आएगा। इसके देने वाले के दिमाग पर दो तरह के असर होंगे। एक तो यह है कि महाराज तो अपरिग्रही कहलाते हैं, फिर परिग्रह का चन्दा क्यो करा रहे हैं? दूसरा यह कि महाराज के दवाव को समझ कर हैसियत से ज्यादा चन्दा लिखाता है और फिर अपने पारिवारिक जीवन में कष्ट उठाता है। साधु के प्रभाव से चन्दे का कार्य करना ठीक नही है।

साधु के जीवन मे पवित्रता सदैव बनी रहनी चाहिये और अगर किसी भी रूप मे साधु को चन्दे–चपाटो मे उतारते हैं तो उस पवित्रता पर आंच आये विना नही रहेगी। कार्य शुभ और प्राभाविक होगा तो चन्दा वैसे ही मिल जायगा। क्या राष्ट्रीय कार्यों के लिये चन्दा नही मिलता? फिर

धार्मिक कार्यों के लिये चन्दा क्यों नही मिलेगा ? ऐसी दशा में साधुओं को उलझाना और उनकी पवित्रता को बिगाड़ना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। साधु अपनी तटस्थ भावना से उदार बनने का उपदेश दे सकते हैं, लेकिन यह नहीं कह सकते कि अमुक संस्था या काम के लिये अमुक राशि दो।

आशय यह है कि कोई भी मुनि मन से भी अपने संयम मार्ग पर कितनी निष्ठा और दृढ़ता से चल रहा है, उसका उसकी बाह्य प्रवृत्तियों से भी आभास मिल जाता है। यह दीख जाता है कि वह भगवान् की आज्ञा की आराधना कर रहा है या सांसारिक प्रपंचो के पीछे पड़ा हुआ है ? मन की स्थिति छिपी नही रहती है। कवि ने प्रार्थना में इसी कारण कहा है कि अनेक प्रकार की ज्ञानहीन क्रियाए करता हुआ मनुष्य चतुर्गति में भटकता है, क्योंकि एक साधक का और एक मुनि का मार्ग कठोरतम होता है। इसका कारण है कि वह चरण-सेवा की शुद्ध विधि को लेकर चलता है, जो आत्मशुद्धि के रूप मे होती है।

साधु-जीवन विश्वजनीन टंकी है

भगवान् ने ३६३ मत और क्रियाओं के १८० भेद बताये है। ६ तत्त्व आप जानते ही हैं। नित्यानित्य आदि की जो सूक्ष्म चर्चाएं हैं, उनमे मैं आपको अभी नही उतार रहा हूं, किन्तु जितने भी कोरे क्रियावादी मत हैं, वे सब भगवान् की आज्ञा की आराधना करने वाले नही हैं। उनमे किसी न किसी रूप मे अज्ञान और मिथ्यात्व घुसा हुआ है। अज्ञान की स्थिति मे चाहे १८० भेद वाला क्रियाकांडी खड़ा हो जाय तो भी वह भगवान् की आज्ञा को १६ मे से १ कला मे भी नही पहुंच सकता है। इसीलिये साधु जीवन को और उस रूप में भगवान् की चरण सेवा को तलवार की धार की उपमा दी गई है अर्थात् साधु जीवन की परीक्षा सम्यक् रूप से की जानी चाहिये। साधु अपने संयम मार्ग पर ठीक तरह से चल रहा है या नहीं—इन सारी परिस्थितियों को भलीभांति देखना चाहिये। यदि साधु ठीक तरह से निर्लिप्त होकर चल रहा है तो उसको उत्साहित करें और कदाचित् यह लगे कि कोई अपने साधु जीवन के विपरीत जा रहा है तो वैसी विकृति को पनपने नहीं देना चाहिये।

मैं साधु-जीवन को उस टंकी की उपमा देता हूं, जहां का पानी नलों से होकर घर-घर पहुंचता है। आपके गंगाशहर-भीनासर में भी ऐसी भी टंकिया होंगी और आप लोग उन टंकियो का पानी पीते होंगे।

कल्पना करें कि यदि आप को मालूम हो कि टंकियों में जहर घोल दिया गया है तो आप क्या करेंगे ? उस सार्वजनिक टंकी को जल्दी से जल्दी शुद्ध कराने के उपाय करेगे । ज्ञानीजन कहते है कि यह साधु-जीवन विश्वजनीन टंकी है । इस मे यदि पवित्रता है तो सभी लोगों को उसकी वाणी के माध्यम से पवित्रता का बोध मिलेगा, आत्मज्ञान मिलेगा और सही मार्ग मिलेगा । यदि इस साधु-जीवन मे विकारों का जहर घुल जाता है तो साधु-चर्या बिगडती है । जो साधुओं को यह कहता है कि जमाने को देखो और जमाने के मुताबिक बदलो तो क्या साधु का आचार भी जमाने के साथ बदलता है ?

जमाना बदलना किसको कहते हो और जमाने के साथ क्या बदलता है ? राजकीय परिस्थितियों के बदलने को ही तो आप जमाना बदलना मानते हो । पहले राजाओ का जमाना था, फिर अंग्रेजों का राज आया । अंग्रेजो का राज गया तो भारतीयो का स्वयं का राज आया और काग्रेस पार्टी ने शासन सम्हाला । अब जनता पार्टी की सरकार बनी है । आगे अन्य किसी का राज आ सकता है, तो क्या जमाने की इस बदलती हुई रफ्तार मे साधु-जीवन के सूत्र भी बदले जाने चाहिये ? अग्रेजो और राजाओ के जमाने मे क्या सत्य और अहिंसा की परिभाषा दूसरी थी और क्या वे परिभाषाएं अब बदल गई है ?

ध्यान रखिये कि न तो शाश्वत सिद्धान्त कभी बदलते हैं और न शाश्वत स्वभाव कभी बदलता है । साधु-जीवन और उसका आचार मूल रूप मे एक शाश्वत प्रक्रिया है, अतः साधु जीवन के मूल महाव्रत कभी नही बदलते । वृक्ष नही बदलता । मौसम का उस पर असर हो सकता है कि कभी पत्ते गिर जाते है तो कभी नई कोपलें खिल आती हैं । लेकिन वृक्ष का मूल सुरक्षित रहना चाहिये । वैसे ही साधु जीवन के मूल महाव्रत-अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह शाश्वत हैं और अपरिवर्तनीय है । इनकी सुरक्षा करते हुए ही साधु को अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये । तभी वह अपनी पवित्रता की रक्षा कर सकता है और पवित्रता को बांट सकता है ।

आत्मशुद्धि की क्रिया ही चरणसेवा की शुद्ध विधि है

जो भी क्रिया मन को साध कर ज्ञान और विवेक के साथ आत्मा के स्वरूप को शुद्ध बनाने के लिये की जाती है, वही भगवान् की चरण-सेवा की शुद्ध विधि होती है । साधु जीवन की तो समस्त कियाएं ही आत्मशुद्धि के हेतु होनी चाहिये । जैसे अर्जुन को लक्ष्य भेदते समय केवल पुतली की आंख दिखाई दे रही थी, उसी तरह साधु का एक मात्र लक्ष्य आत्मशुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति होता है । उसकी समस्त क्रियाएं इसी केन्द्रविन्दु पर आधारित होती हैं ।

अब कोई कहे कि साधु अपने आपको जमाने के अनुसार बदले और सामाजिक कार्यों में भाग ले तो यह उसे लक्ष्य-च्युत करने वाली बात है। जिस धर्म के साथ या पद के साथ जो रहे, उसे उसके नियमों या कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन करना चाहिये। ऊपर से साधु वेश और भीतर से गृहस्थी जैसे काम—यह धोखाधड़ी है।

आचार्य श्री फरमाया करते थे कि साधु किसी को शाप नहीं देता-साधुत्व खोकर कोई देता है तो वह लगता नहीं है। जो वास्तविक सन्त होता है, वह किसी को डराता नहीं, शान्ति से सदुपदेश देता है और माने या नहीं माने—यह श्रोता पर छोड़ देता है। जो साधु अपनी मर्यादाओं के साथ चलता है, उसकी बात को जनता ग्रहण करती है, क्योंकि वह भगवान् का सच्ची विधि-वाला चरणसेवी होता है।



सेवा-धर्म की गहनता

विमल जिन दीठा लोयरण आज............

मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य सेवा का भी बनता है। सेवा करने से जीवन मे अनेकानेक सद्गुणो का प्रवेश सहज ही मे हो जाता है । सेवा का स्वरूप समझना तथा सेवा की विधि जानना और सेवा के फल को पहिचानना—ये कार्य जिसके जीवन मे भलीभांति हो जाते हैं, वही पुरुष वास्तविक सेवा से वास्तविक लाभ उठा सकता है ।

भगवान् महावीर ने सेवा का बहुत बड़ा लाभ बताया है । उन्होने बारह प्रकार के जिन तपो का उल्लेख किया है, उनमे छ: बाह्य तप तथा छः आभ्यन्तर तप बताये हैं । सेवा की गिनती आभ्यन्तर तप मे की गई है । बाह्य तपो मे अन्न आदि के त्याग का विधान किया गया है तो आभ्यन्तर तपो का सीधा सम्बन्ध आन्तरिक शुद्ध भावनाओ के निर्माण के साथ जोड़ा है, जिनके प्रभाव से जीवन की समस्त प्रवृत्तियां कल्याणकारक बन जाती हैं। इन्ही आभ्यन्तर तपो मे वैयावृत्य याने कि शुश्रूषा और सेवा को लिया गया है ।

है कि वह एकान्त गुफा में बैठकर योग-साधना करने लगा—यौगिक प्रक्रियाओं को पूरी करने लगा, लेकिन किसी योग्य पुरुष की सेवा करना ऐसे योगी के लिये भी अगम्य होता है। जब सेवा करने का अवसर आता है, तभी परीक्षा होती है कि मन किस रूप में सध पाया है? एकान्त स्थान में जहां कोई बाधा या उत्तेजना देने वाला नहीं होता, वहां पर सौम्यता और शान्ति रखें—यह भी कठिन है, लेकिन सारी उत्तेजनाओं एवं बाधाओं के बावजूद सौम्यता और शान्ति रखना तथा सेवा साधना का सम्यक् प्रकार से निर्वाह करना वास्तव में अति कठिन होता है। एक विद्यार्थी यों ही पढ़ता रहे तो उसका अध्ययन चलता ही है, लेकिन जब उसे कहा जाय कि उसके विद्याध्ययन की परीक्षा ली जायगी तो वह विद्यार्थी के लिये अधिक कठिन बात हो जाती है क्योंकि उसको बता दिया जाता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बिना वह आगे नहीं जा सकेगा। वैसे ही सेवाधर्म योगियों के लिये भी परीक्षा का विषय होता है।

योग-साधना एवं सेवा-साधना में समत्व भाव का अन्तर

योगी की साधना और सेवा की साधना में अन्तर होता है। योग साधना करने वाला यह समझता है कि मेरी कोई परीक्षा नहीं है और इसलिये दूसरों के लिये उसका कोई मापदंड भी नहीं है। लेकिन सेवा के साधक के लिये दूसरी ही स्थिति होती है। सेवा करने वाले के सामने पल-पल में परीक्षा के अवसर आते हैं। समझिये कि जिस बीमार की वह सेवा कर रहा है, वह उसके पास में जाता है तो पहली परीक्षा तो यहीं ही होती है कि वह समय से गया है या विलम्ब से और उससे बीमार को सन्तोष हुआ है या असन्तोष? रोगी अपनी वेदना में बेचैन होता है तो डांट देता है कि तुम इतनी देर से आये हो—मैं तो तड़प रहा हूं। तुम्हें सेवा करनी है या ढोंग कर रहे हो? यह डांट सुनकर सेवा करने वाले के मन में क्या भाव आ सकते हैं? उसका मन उथल-पुथल होने लगता है कि इतनी लगन से सेवा कर रहा हूं तब भी रोगी को सन्तोष नहीं है। उस समय में उन कटूक्तियों को सहन करना परीक्षा नहीं तो और क्या है? उस समय में उसके समत्व भाव की कठिन परीक्षा होती है। डांट सुनकर वह उत्तेजित हो जाय या शान्त रहे और शान्त रहकर [illegible] मधुर न बने? [illegible] हाथ जोड़ कर [illegible] क्षमा मांगनी चाहिये कि [illegible] ऐसी भूल नहीं करेगा। ऐसी कठिन परीक्षाएं कहां होती हैं योग साधना में—वहां मन की [illegible]?

[illegible] और [illegible] ऐसी परीक्षाओं में [illegible]

उत्तीर्ण होता हुआ सेवा करने वाला विनम्रता, सहनशीलता तथा सरलता की प्रतिमूर्ति बन जाता है, तब समझना चाहिये कि उसकी सेवा स्वरूप और विधि दोनों मे सच्ची बन रही है। रोगी बेभान रहता है और कुछ भी बोल देता है, उस समय यदि तनिक भी उत्तेजना आ गई तो मानना चाहिये कि अभी तक वांछित सद्‌गुणो का संचय नही हो पाया है।

वास्तव मे सेवा–धर्म बड़ा गहन होता है। सेवा करने वाला कुछ भी करता है और अच्छा समझ कर करता है, तब भी उसकी आलोचना होती है। उस आलोचना को सहन करके विनम्रतापूर्वक जो सेवा मे लगा रहता है, तभी उसकी सेवा में वास्तविकता पैदा होती है। सेवा सफलता और सच्चाई से कर सकने की क्षमता विरले व्यक्तियों में ही आती है। सेवा मे समत्व भाव का सर्वोत्कृष्ट विकास दृष्टिगत होना चाहिये। इसीलिये सेवा–साधना योग–साधना से बड़ी मानी गई है।

सेवा किसकी की जाये ?

ऐसी सेवा का जहां तपाराधन करना हो, वहां इसकी सहज तैयारी करना भी साधारण काम नही होता है। ऊंचे सिद्धान्त की दृष्टि से ऊंची भावना रखने वाले पुरुष भी बहुत मिल सकते हैं, लेकिन स्वयं को विगलित करके छोटे की सेवा में अपने आपको सहज भाव से जुटा देना बहुत बड़ी मानसिक तैयारी से ही संभव हो सकता है।

एक पुरुष से यह कहा जाय कि अपने घर मे एक गरीब व्यक्ति रोगग्रस्त होकर पडा हुआ है और उसकी सेवा मे उसके परिवार का कोई सदस्य नही है सो जाकर उसकी सेवा करो ताकि तुम्हारी भी आत्मशुद्धि हो तथा दया व परोपकार का सत्कार्य भी बन जाय। दूसरा पुरुष कहता है कि देखिये, वह गरीब और अपाहिज तो है, उसके परिवार का सदस्य भी कोई उसके पास मे नही है, उसकी सेवा के लिये आप कहते हो, लेकिन एक सम्राट् की सेवा के लिये भी व्यक्ति की आवश्यकता है, अतः जनता मे से कोई इस गरीब की सेवा करने को तैयार हो तो वह सम्राट् की सेवा करे। तीसरा पुरुष बोलता है कि दोनों की सेवा का अवसर है लेकिन एक सन्त की सेवा के लिये भी सेवा करने वाले की आवश्यकता है तो वह सन्त पुरुष की सेवा करना चाहता है। चौथा व्यक्ति कहता है कि तीनो की सेवा का अवसर तो है लेकिन उसकी इच्छा भगवान् की सेवा करने की है। चारों पुरुषों ने चार बातें कही हैं। अब किसकी सेवा करने के लिये कौन उत्सुक होगा ?

कदाचित् वर्तमान में सामने बैठे हुए श्रोताओं से पूछा जाय कि यदि इस प्रकार चार सेवाओं का प्रसंग आता है तो आप पहले किसकी सेवा करने के लिये तत्पर होंगे ? आप कुछ बोल नहीं रहे हैं, सोचते होंगे कि महाराज ही बोल देंगे । लेकिन मन में सोचते होंगे कि सबसे ऊंची सेवा तो भगवान् की है । भगवान् की सेवा करें तो उससे बढ़कर दूसरी कौनसी सेवा हो सकती है! दूसरे क्रम पर आप सन्त पुरुष की सेवा को लेना चाहेंगे । लेकिन इस प्रकार सोचने वाले भी व्यक्ति हो सकते हैं कि भगवान् और सन्त की सेवा से क्या मिलने वाला है ? यदि सम्राट् की सेवा सफल हो गई और वे प्रसन्न हो गये तो जागीर मिल सकती है—धन और पद मिल सकता है। ऐसे व्यक्ति सम्राट् की सेवा के लिये उत्सुक होंगे । परन्तु उस अकेले गरीब की सेवा करने के लिये अपनी उत्सुकता कौन बतायेगा ? उस गरीब रोगी को कोई देखेगा तो दूसरे से कह देगा कि इसको तू सम्हालना—मैं जरा काम से जा रहा हूं । हालांकि आत्मा उस गरीब व्यक्ति के भी है और सम्राट् के भी है, पर सम्राट् के पास वैभव है और सेवा करने वाले को उससे प्राप्ति की आशा रहती है । उस गरीब के पास तो देने को कुछ है नहीं । सन्त जिनके पास न वैभव है और न वे उस गरीब जैसे हैं तो उनके स्वरूप को जो समझता है, वह यह सोचता है कि महात्मा का शुभ आशीर्वाद मिलेगा तो जीवन सफल बन जायगा । सम्राट् सेवा के बाद जागीर दे या नहीं दे, लेकिन महात्मा की सेवा में तो लाभ ही है । इस विचार से संत या भगवान् की सेवा के लिये कोई तैयार हो जाता है । लेकिन सेवा की विधि में बड़ा अन्तर है ।

जो गरीब आदमी बेसहारा होकर रोग से पड़ा हुआ है, उसकी सेवा करने में स्वयं सेवा करने वाले को ही सब कुछ करना पड़ेगा । वह उसके हाथ पैर भी दबावे तो अपने पास से पैसा खर्च करके दवा भी लावे और पथ्य भी बना-कर खिलावे । इसके साथ मधुर मन और मधुर वचन की भी आवश्यकता होती है, जबकि सम्राट् की सेवा करने में मन और वचन की मधुरता ही पर्याप्त है, पर उस मधुर मन के नीचे कितना और कैसा लोभ छिपा रहता है, यह स्थिति भी समझने योग्य होती है ।

साधु की सेवा किस रूप में करें ?

सन्त रूप या साधु की सेवा कैसे होगी—यह भी विचारणीय स्थिति है । साधु की सेवा करने के लिये आप पहुँचें तो क्या आप उनके हाथ पैर या माथा दबायेंगे ? वह तो इसे स्वीकार नहीं करेंगे । यदि साधु दूरदर्शी है तो

सेवा ले तो उसका उसे प्रायश्चित्त लेना होता है। साधु की ऐसी सेवा शुश्रूषा अन्य साधु ही कर सकता है। कदाचित् औषधि दूर से लानी है और अन्य साधु वहां से लाने की स्थिति मे नहीं है तथा गृहस्थ लाता है तो उसका भी साधु को प्रायश्चित्त लेना होता है। साधु की यह सारी सेवा अन्य साधु ही करता है तो प्रश्न बना रह जाता है कि गृहस्थ साधु को किस रूप मे सेवा करे ?

साधु का सत्कार करने की बात यदि गृहस्थ सोचे तो साधु का सत्कार भी विधिपूर्वक ही किया जा सकता है। एक तो वह हाथ जोड़कर साधु का वन्दन करता है—वह भी सत्कार ही है। वह साधु के लिये निर्दोष गोचरी की दलाली कर सकता है। दलाली का मतलब है साधु को दोषरहित भिक्षा मिल सके—ऐसे घर बताना, उनके साथ-साथ जाना। कही घर मे अकेली बहिन हो तो चूंकि ऐसी स्थिति में साधु भिक्षा नही ले सकता है तो साथ जाने वाला भीतर जाकर साधु को बहरा सकता है। दलाल की उपस्थिति मे ही उस अकेली वहिन से भिक्षा ली जा सकती है। सेवा करने वाले दलाल मे यह सब विवेक होना चाहिये। सामान्यतया दलाल को घर के भीतर नही जाना चाहिये क्योंकि दातार की भावना कैसी है या कैसी नही है—यह दातार ही जाने या सन्तवर्ग ही जाने। साधु को जैसी दातार की भावना हो, वैसी भिक्षा अपनी आवश्यकता के अनुसार लेनी चाहिये। यदि कोई दातार कंजूस है तो वैसी बात साधु पचा सकता है लेकिन उतनी गंभीरता दलाल मे नहीं भी हो। दलाल के भीतर जाने से दातार व्यर्थ के संकोच में भी पड सकता है। इसलिये विवेकी दलाल दरवाजे पर ही खड़ा रहता है और बुलाने पर भीतर जाता है।

साधु की दूसरी सेवा मकान के रूप मे हो सकती है। कही पर साधु को मकान की आवश्यकता पड़े और गृहस्थ के पास अलग मकान है तो वह संत को उसमें ठहरा सकता है। मकान के लिये आज्ञा देना भी साधु की सेवा है। मकान की आज्ञा देने वाला महान् लाभ कमाता है।

साधु की सबसे बडी सेवा यह होती है कि साधु जीवन को सुरक्षित रखने का निरन्तर विवेक रखा जाय। यदि साधु अपनी मर्यादा से इधर-उधर हो रहा है तो गृहस्थ नम्रता से निवेदन करे कि भगवन् आप ऊंचे पद पर पहुंचे हैं—आप मर्यादा से विचलित होने का अमुक कार्य न करें। ऐसा संकेत भी साधु की सेवा है। यदि साधु को उसकी मर्यादा से हटाकर आप कोई सेवा करते हैं तो ध्यान रखिये कि आपकी वह सेवा कुसेवा है। उससे आपकी निर्जरा नही होती बल्कि पापबंध होता है। जहा सहयोग की स्थिति मे आप

साधु के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की अभिवृद्धि करते हैं तो वह उसकी सच्ची सेवा है । सेवा सच्ची भावना के साथ विधिपूर्वक होनी चाहिये। आपकी भावना बहुत है लेकिन विधि नहीं है तो वह सेवा कुसेवा बन जाती है । कोई भावना के साथ घड़ा भर पानी लाकर साधु के पैरों का प्रक्षालन करना चाहे अथवा उनके गले में फूलों का हार डालना चाहे तो क्या वह साधु की सेवा होगी या उनका सत्कार होगा ? यह पापकारी कार्य होता है जो साधु के लिये कतई उचित नहीं है । इसलिये भावना के साथ विवेक और विधि भी जरूरी है। अच्छी भावना के साथ अफीम खालें तो उसका जहर तो चढ़ेगा ही । इस कारण सेवा में भावना के साथ विवेक और विधि भी चाहिये ।

भगवान् की सेवा में विवेक और विधि

मैंने चार सेवाओं का दृष्टान्त दिया है । अब भगवान् की सेवा की बात है । कवि बता रहा है—

> धार तलवार नी सोहिली,
> दोहिली चवदवां जिन तणी चरण-सेवा ।

भगवान् की सेवा तलवार की धार से भी कठिन बताई गई है। सिद्ध भगवान् सिद्ध अवस्था में हैं, वे आपके सामने नहीं हैं । लेकिन सिद्ध भगवान् का पद पाने से पहले अरिहंत भगवान् बनते हैं। ये अरिहंत भगवान् कौन होते हैं ? पहले गृहस्थ की पोशाक में आते हैं, फिर साधु बनते हैं और तब अपने तप और पुरुषार्थ से आत्मगुणों पर विजय पाते हैं । उसके बाद अरिहंत बनते हैं । भगवान् महावीर भी अरिहंत बने तो पहले साधु बने और साधना करते-करते कर्मों का क्षय करके अरिहंत बन गये । साधु की भूमिका में ही अरिहंत बना जाता है । उत्कृष्ट साधुता ही अरिहंत पद देती है । इसलिये साधुता का विशिष्ट महत्व होता है ।

इस कारण साधु के योग्य जो सेवा हो, वह करनी और जो योग्य नहीं हो, वह नहीं करनी चाहिये । जो सेवा साधु के योग्य नहीं होती, वह सेवा क्या भगवान् के योग्य कैसे हो सकती है ? अब कोई भगवान् के चरणों के प्रक्षालन के लिये पानी ढोले और उनके गले में फूलों की मालाएं डाले तो यह उनकी कैसी सेवा है—यह विचार करने [illegible] बात है । अरिहंत भगवान् [illegible] के योग्य नहीं [illegible] ।

कवि आनन्दघन जी एक आध्यात्मिक कवि थे । उन्होंने [illegible] की सेवा का संकेत किया है—

गच्छ ना भेद बहु नयरा निहालतो,
तत्त्व नी बात करतां न लाजे ।
उदरभरणादि निज काज करतां थकां,
मोह नड़ियां कलिकाल राजे ॥

उन्होंने कहा है कि भगवान् की सेवा या भक्ति करने के नाम से बहुतेरे गच्छ भेद बन गये हैं । लेकिन भगवान् की सच्ची सेवा यह है कि भगवान् की आज्ञा की आराधना की जाय । भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत ही चतुर्विध संघ आता है और उन्होंने संघ के चारों तीर्थों के लिये उचित आज्ञाओं का निर्देश दिया है । आचारांग सूत्र में जो लिपि, भाषा और शैली की दृष्टि से प्राचीनतम है, सभी आज्ञाओं का उल्लेख है कि श्रावक–श्राविका साधु–साध्वियों की किस रूप में सेवा करें ? दशवैकालिक सूत्र में भी साधु–धर्म का विशद विवेचन है । सर्वमान्य तत्त्वों की स्थिति को समझ लें तो मतभेद की स्थिति ही पैदा नहीं होगी । जब निजी स्वार्थों अथवा यश कीर्ति की लालसा पूर्ति के लिये भगवान् की वाणी का प्रयोग किया जाने लगता है तो उसके अर्थ में जानबूझ कर तोड मरोड किया जाता है । इस तरह भेद पैदा होते हैं । फिर रागद्वेष और मान–अपमान का वातावरण बनता है । तो क्या इस रूप में भगवान् की आज्ञा की आराधना की जा रही है या अपने–अपने अहंकार का पोषण किया जा रहा है ? भगवान् की सेवा में भी विवेक और विधि की पूरी-पूरी आवश्यकता होती है ।

अपनी पूजा–प्रतिष्ठा का मोह या भगवान् की सेवा का ध्यान ?

भगवान् की सेवा जो तलवार की धार से भी कठिन बताई गई है, उसके मर्म को गंभीरतापूर्वक समझना चाहिये । कई मत मतान्तर अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के मोह को लेकर चल रहे हैं और समाज की शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है—यह देखने की बात है । श्रावकों की सम्पत्ति का अपव्यय करके व्यक्ति-पूजा, यश कीर्ति और प्रसिद्धि के कार्य किये जाते हैं और उनके पीछे अलग–अलग गच्छ और सम्प्रदायें बन जाती हैं । इसी स्थिति को ध्यान में रखकर आनन्दघन जी ने कहा है कि 'गच्छ ना भेद बहु नयरा निहालतां, तत्त्व नी बात करतां न लाजे' अर्थात् गच्छो के भेद डालते हैं और फिर भी तत्त्व की बातें करते हुए शरमाते नहीं हैं । तत्त्व की बात तभी शोभा देती है, जब तत्त्व के अनुसार चलने वाला जीवन हो ।

जीवन में दोनों बातें एक साथ नहीं रह सकती हैं कि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा महत्त्वाकांक्षा का मोह भी बने और भगवान् की सेवा का ध्यान भी रह जाय। भगवान् की सेवा करनी है तो मोह छोड़ना पड़ेगा। मोह आत्मा का एक सांघातिक रोग है—फोड़ा है। फोड़े के विकार को दबाना नहीं, स्वस्थ होने के लिये बाहर निकालना चाहिये क्योंकि विकार को एक स्थान पर एक प्रकार से दबा दिया जाता है तो वह दूसरे स्थान पर दूसरे प्रकार से फूट जाता है। इसी तरह मोह का पोषण करने से कभी भी आत्मा स्वस्थ नहीं बनती है। आत्मा को स्वस्थ बनाना है तो मोह के विकार का समूल नाश करना होगा।

मैं बताना चाहता हूं कि वर्तमान मनुष्य-जीवन में मोह का यह फोड़ा बुरी तरह से फैल रहा है। कई रूपों में और कई प्रकारों से यह उभरता रहता है। संसार का मोह छोड़ा जाता है तो पूजा-प्रतिष्ठा का मोह लग जाता है। यह मोह अलग-अलग रूप धारण करके आत्मा को नचाता है। यही मोह अलग-अलग गच्छ भेद बनाकर अपनी कुप्रवृत्तियों का पोषण करता है। मोह नहीं छूटता तो साधु-जीवन उसके बलि चढ़ जाता है। मोह के २८ भाग होते हैं और यह बहुरूपिया बनकर आत्मा को अपने अधीन किये रहता है। ऐसी इस की विचित्र दशा है।

कवि ने संकेत किया है कि इस परिस्थिति में भगवान् की आज्ञा दर-किनार रह जाती है—शास्त्र आलमारियों में धरे ही रह जाते हैं और व्यक्तिगत पूजा प्रतिष्ठा और अपने मान-सम्मान के लिये जीवन को अर्पित करने की यहां तत्परता दिखाई देती है। यह भगवान् की सेवा नहीं है। भगवान् की सेवा अहिंसा में है—हिंसा, अज्ञान और मोह का त्याग करने में है। साधु को इन सबका तीन करण, तीन योग से त्याग करना होता है। छः काया के जीवों की रक्षा करना—यह साधु जीवन की कसौटी है और इस कसौटी पर खरा उतरना ही भगवान् की विवेक तथा विशुद्ध सेवा है।

सेवा-धर्ममय साधु-जीवन का अनुसरण करें!

जब यह बात कही जाती है कि सेवा-धर्ममय ऐसे साधु-जीवन का अनुसरण करें तो अभी लोग मुझसे पूछते हैं कि ऐसे साधु की परीक्षा कैसे हो? इस विषय में पूज्य श्री [illegible] जी म. सा. ने कहा है—

[illegible] ।

[illegible] ॥

साथ ही मैं उनको यह बताता हूं कि आप लोग सोना खरीदने के लिये बाजार मे पहुंचते है, वहा सर्राफो की बहुत सी दूकानें होती है । आपको १०० टंच का सोना चाहिये या २४ कैरेट का ?तो सर्राफ के कहने के बावजूद भी सोने को कसौटी पर कस कर देखते है । किसी दूकान की चमक दमक जोरों की हो, लेकिन सोना रोल्ड गोल्ड दे रहा हो तो क्या आप लेंगे ?जैसे वहां चमक दमक में नही फसते और शुद्ध सोना लेना चाहते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे बाहर की चमक दमक काम की नही होती । कलिकाल मे सर्वज्ञ नहीं होते, इसलिये आगम रूपी कसौटी पर ही साधु-जीवन को कस कर परखना चाहिये । कोई भगवान् की आज्ञा का आराधक है या मोह का पोषण कर रहा है—इस तथ्य की परीक्षा कठिन नही होती है । भगवान् की आज्ञा के अनुसार जो आत्मा की सेवा करते हुए परमात्मा की सेवा करता है और सेवा धर्म का सम्यक् रूप से निर्वाह करता हैं—वैसे साधु-जीवन का अनुसरण किया जाना चाहिये ।

भगवान् को सेवा की आवश्यकता नहीं है । उनकी जो चरण-सेवा है, वह आत्माचरण रूप है तथा अपनी ही सेवा है। सेवा अपने आपको पवित्र बनाने का साधन है । सेवा करने वाले को अपनी भावना का अंकन करना चाहिये—सेव्य की दृष्टि से उनमे भेद नही आना चाहिये । सेव्य के भाव सेव्य जाने लेकिन सेवा करने वाले को अपनी भावना उत्कृष्ट रखनी चाहिये । इस भावना के साथ ही विवेक और विधि की उत्कृष्टता भी वांछनीय होती है । ऐसी सेवा साधु-जीवन मे तो परिपूर्ण रीति से साध्य मानी जानी चाहिये । जो उपलब्धि जितनी अधिक गहन होती है, वह उतने ही श्रेष्ठ जीवन मे प्राप्त हो सकती है । जो सेवाधर्म योगियो के लिये भी अगम्य बताया गया है; उसे एक सच्चा साधु अपने जीवन मे विकसित कर लेता है । सेवा की श्रेष्ठता से निर्जरा होती है व आत्मशुद्धि बनती है । सेवाधर्मी साधुओ का अनुसरण गृहस्थों को भी सेवामार्ग पर आगे बढ़ाता है ।



सत्य का अनेकान्तवादी स्वरूप

[illegible]

जीवन-विकास के प्रधान रूप से दो अवलम्बन माने गये हैं—एक सत्यनिष्ठा और दूसरा सत्य-व्यवहार। जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा सत्य के स्वरूप के साथ चलती है। सत्य के समग्र स्वरूप को समझ कर जब सत्य-प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है, तभी साधक या मानव अपनी शक्तियों को केन्द्रीभूत बनाकर निश्चय करता है कि मुझे परम सत्य को प्राप्त करना है। यह परम और चरम सत्य का अपने जीवन में साक्षात्कार करना ही उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य बन जाता है।

सुदृढ बनाकर जब मेरे जीवन का प्रत्येक व्यवहार सत्यमय बनेगा, तभी मैं सत्य के अन्तिम छोर तक पहुच कर सत्य के परिपूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर सकूंगा।

सत्य की शोध कैसे ?

किसी भी सत्य के जिज्ञासु का जब ऐसा चिन्तन बनता है और जब वह सत्य प्राप्ति के लक्ष्य को निर्धारित कर लेता है तो उस बिन्दु से वह सत्य की शोध मे निकल पड़ता है। तब सबसे पहले वह सत्य के विराट् स्वरूप की शोध करता है। शोध का तात्पर्य यह है कि वह सत्य के सभी पक्षो को याने कि सत्य के पूर्ण स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। पहले किसी भी तत्त्व की स्पष्ट समझ और जानकारी होगी, तभी उसके प्रति मजबूत निष्ठा बन सकेगी और उस निष्ठा के अनुसार जीवन का समस्त व्यवहार ढल सकेगा। इसलिये सत्य शोधक समझने के माध्यम को ढूंढेगा। वह इस सूत्र को पकड़ेगा कि सत्य का पूर्ण स्वरूप कैसा है तथा उसके स्वरूप को आत्मसात् करके परम सुख की उपलब्धि कैसे की जा सकती है ?

वस्तु के स्वरूप का जहा वर्णन दिया गया है, वहां ज्ञानियो का स्पष्ट उल्लेख है कि—

"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु।"

जिसको भी वस्तु की सज्ञा दी जाय, वह वस्तु अपने आप मे परिपूर्ण होती है और उसका वस्तु–स्वरूप अनन्त धर्म वाला होता है। यहां वस्तु के प्रसग से धर्म का उल्लेख है। यहां जो धर्म शब्द आया है, वह वस्तु के स्वभाव को बतलाने वाला है। सामान्य जन जिसे धर्म के रूप मे समझते हैं, वह धर्म भी आत्मा का स्वभाव रूप ही होता है। इसी प्रकार से वस्तुगत धर्म होता है, उसका अनन्त रूप वाला स्वभाव। प्रत्येक वस्तु अनन्त स्वभाव वाली है और वे स्वभाव अपेक्षा से परस्पर भिन्न–भिन्न भी दिखाई देते हैं तथा अपेक्षा से अभिन्न भी प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर आत्मा को ही ले लीजिये। इस आत्मा को एक परिपूर्ण द्रव्य माना गया है और दूसरे छोर पर जड को भी एक परिपूर्ण द्रव्य माना गया है। सारे ससार मे जितने भी दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थ हैं, उन सारे पदार्थों का समावेश जड़ और चैतन्य की परिपूर्णता की स्थिति के अन्तर्गत ही होता है। चैतन्य से भी संसार परिपूर्ण है तो जड़ से भी वह लबालब भरा हुआ है। सत्य की शोध मे जब गहराई से उतरा जाता है तो सबसे पहले ससार के स्वरूप सत्य को समझ लेना आवश्यक होता है।

जड़ चैतन्यमय संसार

यह संसार जड़ और चैतन्यमय है। मोटे तौर पर जड़ के दो भे
हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी जड़ तत्व तीन माने गये हैं—धर्मास्तिकाय, अ
धर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय। रूपी जड़ का एक भेद है पुद्गलास्तिकाय
पुद्गलों के समूह होते हैं जिन्हें स्कंध, देश प्रदेश और परमाणु कहते हैं। प
माणु पुद्गल का इतना छोटा हिस्सा होता है, जिसे दो भागों में विभक्त न
किया जा सकता है। इस प्रकार अरूपी के तीन और रूपी का एक कुल च
भेद जड़ तत्व के हुए।

चैतन्य की दृष्टि से एक ही भेद है और वह है आत्मस्वरूप। आत
एक मानी गई है। शास्त्रकारों ने इसे एक शब्द में ही सम्बोधित की है।
"एगे आया[1]" आत्मा एक है। लेकिन इस तथ्य को स्पष्ट करने के लि
आत्मा अनन्त भी बताई गई है। प्रत्येक आत्मा अपने-अपने स्वरूप में स्व
होती है।

ये पांच अस्तिकाय और काल औपचारिक रूप से संसार के आधा
बिन्दु माने गये हैं। यह संसार षट् द्रव्य मय याने कि इन छः द्रव्यों वाला हो
है। इनमें से एक द्रव्य के वस्तु स्वरूप को भी परिपूर्ण रूप से समझने में
सभी द्रव्यों का वस्तुस्वरूप समझ में आ जायगा। अभी केवल आत्मस्वरूप
ही ले रहे हैं। आत्मा के स्वरूप को यदि सही रूप में पहिचान लें और उस
अनुरूप अपनी निष्ठा, आस्था तथा आचरण-प्रणाली को बना लें तो सम
विश्व के परिपूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लिया जा सकता है।

आत्मा के वस्तु स्वरूप को समझना भी थोड़ा कठिन अवश्य है
लेकिन इतना कठिन नहीं कि प्रयत्न करने पर भी किसी की समझ में न
आवे। यदि उसको ध्यान से समझें और चिन्तन में उतारें तो आत्मस्वरूप क
भलीभांति दिग्दर्शन कर सकते हैं और उनके माध्यम से संसार स्वरूप के सम
भी जा सकते हैं।

आत्मा का सही-स्वरूप :

आत्मा न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य। दार्शनिक दृष्टि से
शास्त्रकारों ने इसके दो अलग-अलग भेद बताये। एक भेद से बोला कि
यह आत्मा द्रव्य रूप से नित्य और ध्रुव है। दूसरे भेद से कहा कि

---

1. स्थानांग सूत्र

आत्मा सर्वथा अनित्य है और क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है । सत्य की परिपूर्ण साधना कर लेने पर भगवान् महावीर ने उद्घोषित किया कि दोनों पक्ष सत्य के समीप नही हैं, जब वे एकान्त रूप से बात करते हैं । उन्होने कहा कि सत्य के अनेकान्तवादी स्वरूप को समझना चाहिये और उस दृष्टिकोण से आत्मा का स्वरूप नित्य भी है और अनित्य भी । ये दोनों धर्म आत्मा के है।

जो आत्मा को एकान्त नित्य कहते हैं, वह भी सत्य नहीं है और जो एकान्त रूप से अनित्य कहते हैं, वह भी सत्य नही है । दोनों अपेक्षा से सत्य का किनारा हो सकता है, लेकिन सत्य नही हो सकता । आत्मा का स्वरूप नित्य भी दीखता है और अनित्य भी दीखता है । जो नही समझने वाला है, वह कह सकता है कि जो नित्य है, वह अनित्य नही होगा एवं जो अनित्य है, वह नित्य नही होगा । यह तो दिन और रात सरीखी बात कही । यदि दिन को ठीक माना जाय तो रात वेठीक होगी । इन दोनों में परस्पर विरोध होगा तो यह मानना पडेगा कि वस्तु-स्वरूप में एक साथ दो धर्म नही रह सकते हैं । लेकिन तीर्थंकरों ने बड़ी बारीकी के साथ समझाया है कि एक वस्तु स्वरूप में एक या दो ही नहीं, अनन्त धर्म एक साथ रहते है । वस्तु-स्वरूप मे जो परस्पर विरोधी लगने वाले स्वभाव दिखाई देते हैं, उनमें भी अपना एक सामंजस्य होता है । सिर्फ इन्हें अपेक्षा दृष्टि से देखने का सवाल है ।

आत्मा के जो दो स्वभाव या धर्म नित्य और अनित्य के रूप मे दिखाई देते है, वे दोनों सापेक्ष दृष्टि से हैं । यह भी सत्य है कि आत्मा कभी नष्ट नही होती—ध्रुव रूप मे सदा बनी रहती है । लेकिन यह भी सत्य है कि अपनी पर्यायों की दृष्टि से आत्मा निरन्तर बदलती रहता है, जो उस परिवर्तन की प्रक्रिया के कारण अनित्य समझ मे आती है । एक ही आत्मा मे अनन्त धर्मों का प्रसंग होता है—उसके अनन्त स्वभाव होते हैं, जिन्हे एक दृष्टि से समझा नही जा सकता है । एक साथ उनको समझने मे कल्पना की अपेक्षा होगी । इसी कारण किसी भी सत्य को समझने के लिये सापेक्ष दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है और यही पूर्ण सत्य को समझने की अनेकान्तवादी दृष्टि है ।

सत्य का असली रूप :

परिपूर्ण सत्य के स्वरूप को समझने के लिये जहां सापेक्ष दृष्टि के विकास की बात कही गई है, वहां सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये सापेक्ष व्यवहार को बनाने का निर्देश भी दिया गया है ।

इस दार्शनिक विचार को आप सरलता से समझने का यत्न कीजिये। मैं आपसे पूछूं कि आप सत्य बोलते हैं या झूठ? आप कोई बोल नहीं रहे हैं। आपने सीधा प्रश्न कर लिया—यह ठीक नहीं रहा। आपसे नहीं पूछ कर सामान्य रूप से पूछूं कि मनुष्य सत्य बोलता है या झूठ? तो आप कहेंगे कि कई मनुष्य सत्य बोलते हैं और कई मनुष्य झूठ बोलते हैं। सत्य किसको कहते हैं और झूठ किसको कहते हैं—क्या आप इस बात का निर्णय देंगे? दुनिया उस बात को सत्य समझती है कि जैसी बात कोई सुने या जाने, उसको उसी रूप में कह दे। किसी ने सुना कि देवदत्त [illegible] नगर गया है तो दूसरों पर वैसी ही बात कह दी जाय। जैसी देखी हो, वैसी ही बात कहना—यह भी सत्य माना जाता है। लेकिन ज्ञानीजन का कथन इससे भी गहरा है जैसे—कोई यह कह रहा है कि मैंने सड़क पर गाय देखी है। यह उसका कथन सही है। लेकिन ऐसा कहने वाला परिपूर्ण सत्य में निष्ठा रखने वाला है या नहीं? यदि निष्ठा रखने वाला है तो उसका कहना ठीक है और यदि नहीं है तो उसका कहना सामान्य रूप से सत्य होते हुए भी ज्ञानीजन की दृष्टि से वह सत्य नहीं, झूठ है। आप यह सुनकर उलझन में पड़ जायेंगे और कहेंगे कि फिर सत्य क्या है?

सत्य तभी सत्य होता है, जब उसके साथ अनेकान्तवादी दृष्टि होती है। एकान्तवादी दृष्टिकोण रखने पर सत्य भी झूठ हो जाता है। अनेकान्तवादी दृष्टि उसी व्यक्ति की हो सकती है जो परिपूर्ण सत्य में निष्ठा रखता है। इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को एक दृष्टान्त से समझिये। एक गांव में कुछ अन्धे रहते थे। वे जन्म से ही अन्धे थे। वे सब एक स्थान पर रहते थे। अचानक एक दिन उन्होंने सुना कि हाथी आया है—सभी उसके पास पहुंचे। वे हाथी के शरीर को अपने हाथों से टटोलने लगे—आंखें तो थीं नहीं। एक अन्धे के हाथ में हाथी का पैर आ गया, उसने घोषणा की कि मैंने हाथी देख लिया है—यह खम्भे जैसा है। दूसरे के हाथ में सूंड आई थी, उसने कहा—नहीं, हाथी मूसल जैसा है। तीसरे ने हाथी के पेट पर हाथ फेरा, उसने हाथी को पखाल जैसा बताया। चौथे का हाथ हाथी के कान पर गया, उसने जोर देकर कहा—तुम सब गलत हो, हाथी तो सूप जैसा है। [illegible] ने अपने हाथ से [illegible] हाथी को [illegible] जैसा बताया। इसी प्रकार सभी अन्धों ने अपनी-अपनी [illegible] हाथी का स्वरूप बताया। अब वे आपस में झगड़ने लगे—[illegible] और [illegible] झगड़ने लगे। हाथी जैसा है, [illegible] और हम सब अधूरे हैं, वैसा है ही नहीं—यह [illegible]।

अब आप बताइये कि उन अंधों में कौन झूठे थे और कौन सच्चे ? आप भी चक्कर मे पड़ जायेंगे कि इसका क्या उत्तर दें ? यो सभी अंधे सच्चे थे लेकिन नतीजे मे सभी झूठे दिखाई दे रहे हैं। वे अंधे अपने-अपने एकान्त सत्य की स्थापना के लिये मुंह से और फिर हाथो से लड़ने लगे। तभी एक समझदार व्यक्ति वहां पहुंचा। उसने पूछा—आप लोग लड क्यो रहे हैं ? सब एक साथ बोले—हम सत्य के लिये लड़ रहे हैं। एक ने कहा– मैंने खुद हाथी को हाथ लगाकर देखा है, वह खंभे जैसा है और ये सब झूठे हैं, कोई तो हाथी को रस्सी जैसा और कोई चबूतरे, छाज, मूसल आदि जैसा बता रहे हैं। मैं इनसे कहता हूं कि मैं एकदम सच कह रहा हूं फिर भी ये मेरी बात नही मानते और अपने झूठ को दोहराये जा रहे हैं। ऐसी ही बात एक-एक करके सभी कहने लगे।

वह व्यक्ति परिपूर्ण सत्य में निष्ठा रखने वाला था। उसकी अनेकान्तवादी दृष्टि थी कि जब तक सत्य को सभी अपेक्षाओ से नहीं जान लो, तब तक खंड सत्य असत्य रूप में रहता है। उस व्यक्ति ने कहा—देखो, आप सभी लोग सच्चे हो। आप सभी अपने सत्य को मिलालो तो पूरा हाथी बन जायगा। खंभे जैसा हाथी का पैर था, रस्से जैसी पूंछ थी, चबूतरे जैसा उसका पेट था, छाज जैसा कान, मूसल जैसे दांत और इसी प्रकार उसके अलग-अलग अवयव थे। सभी अपने-अपने को ही सत्य मानोगे तो सभी झूठे कहलाओगे और सब अपने-अपने सत्य को मिला दोगे तो पूरा सत्य बन जायगा। इस रूप मे परिपूर्ण सत्य को समझने की जो आध्यात्मिक प्रणाली है, उसे ही अनेकान्तवाद कहते है।

अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में वस्तु का स्वरूप :

प्रत्येक वस्तु-स्वरूप के पूर्ण सत्य को समझना है तो उसे अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे ही देखना होगा। इसी दृष्टि से आत्मतत्त्व का विश्लेषण करें।

आत्मा के अनन्त धर्मों मे उसका नित्य स्वभाव भी है तो उसका अनित्य स्वभाव भी है। इसी प्रकार आत्मा मे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य के गुण भी हैं। आत्मा मे अनेक तरह के स्वभाव रहे हुए हैं। स्वभाव की दृष्टि से स्वभाव के अलग-अलग हिस्सो को अलग-अलग हिस्से ही मानकर चलें और एकान्त धारणा रखें तो आत्मस्वरूप को समझने मे पूरी तरह विशृंखलता आ

जायगी। सभी हिस्सों में सामंजस्य बना कर अनेकान्तवादी दृष्टि रखेंगे, तब कहीं जाकर आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप समझ में आ सकेगा।

कोई कहता है कि आत्मा नित्य ही है तो दूसरा कहता है कि आत्मा अनित्य ही है तो वह 'ही' लगाने पर दोनों कथन असत्य हो जाते हैं, उन अन्धों के कथनों की तरह। इस 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग किया जाय तो सत्य की भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं उस-उस अपेक्षा की दृष्टि से समझी जा सकती हैं और किसी भी वस्तु स्वरूप को उसकी पूर्णता में देखा जा सकता है। आत्मा नित्य भी है—ऐसा एक अपेक्षा से कहा जा सकता है और उसी प्रकार दूसरी अपेक्षा से यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा अनित्य भी है। अपने शाश्वत द्रव्य रूप से आत्मा नित्य-स्वभावी है तो अपनी भिन्न-भिन्न पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनित्य-स्वभावी भी होती है।

आत्मा ज्ञानवान् है—यह सत्य है, लेकिन कोई कहदे कि आत्मा ज्ञानवान ही है तो वह सत्य नहीं रहेगा। वैसे ही सभी तत्वों एवं उनके वस्तु स्वरूपों के बारे में सापेक्ष, अनेकान्तवादी या स्याद्वादी दृष्टि से व्यवहार करते हैं तो उनके द्वारा पूर्ण सत्य का प्रतिपादन होता है। हृदय में पूर्ण सत्य का लक्ष्य हो, उसके प्रति विश्वास एवं आस्था हो, तभी उस सत्य को प्रकट करने में आप ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करेंगे जो पूर्ण सत्य की झलक दिखाते हों। इस प्रकार पूर्ण सत्य की निष्ठा के साथ व्यवहार में भी पूर्ण सत्य की पोषक दृष्टि का विकास होता है।

वचन और व्यवहार कैसा हो ?

जब हृदय में परिपूर्ण सत्य की निष्ठा होती है तो वचन सापेक्ष निकलते हैं और सापेक्ष वचनों से सत्य व्यवहार प्रणाली का विकास होता है। सापेक्ष वचनों से सच्चा व्यवहार बनता है तो निरपेक्ष वचनों से दुराग्रह पैदा होता है तथा झूठा व्यवहार पनपता है।

पोता कहने लगे कि यह तो गलत है, ये तो मेरे पिता हैं । तो झगड़ा किसके बीच मे होगा ? दादा और पोता के बीच मे । दादा कहता है कि वह मेरा बेटा है—यही बात सही है और पोता कहता है कि मेरी ही बात सही है कि ये मेरे पिता है तो बताइये कि कौन सही और कौन गलत है ? बिना अपेक्षा दृष्टि के इस विवाद को कैसे सुलझा सकेंगे ?

यदि व्यवहार को सही बनाना है तो वचन मे भी अपेक्षा दृष्टि लानी होगी । दादा अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है तो अपने पोते की अपेक्षा से दादा है । वह पिता भी है और दादा भी है । यह कहें कि वह पिता ही है या दादा ही है तो वह झूठ हो जायगा । व्यवहार में कहने-कहने में बड़ा अन्तर आ जाता है । यदि समग्र अपेक्षाओ को ध्यान में रखकर बोला जाता है तो वचन और व्यवहार दोनो सत्य बन जाते हैं । एक ही व्यक्ति अपने अलग-अलग सम्बन्धियों की अपेक्षा से अलग-अलग सम्बोधनधारी हो जाता है । वह दादा, पिता, चाचा, मामा, साला, बहनोई, पति, पुत्र—सभी होता है । अब उसे केवल एक ही सम्बोधन से पुकारा जाय और उसे ही सच्चा बताया जाय तो हठवाद के साथ वह बात झूठ कहलायगी । अनेकान्तवाद, वहां 'भी' का प्रयोग करना सिखाता है और इन सारे 'भी' को एकात्रित करके देखे तो पूर्ण वस्तु-स्वरूप ध्यान और ज्ञान मे आ सकता है । जो व्यक्ति पहले गाय को देखकर आया और कहता है कि गाय को देखकर आया हूं तो उसका कथन सच और झूठ दोनों हो सकता है । उस गाय की भी आत्मा है जो नित्य और अनित्य दोनों होती है । गाय को देखकर आने वाला अगर यह जानता है कि गाय का शरीर पांच भौतिक तत्त्वों से बना है—वह आत्मा की पर्याय है, स्वयं आत्मा नही तो उसने गाय कहां देखी याने आत्मा कहां देखी ? सिर्फ पंचभूत देखा है । यों उस का कहना सच भी है कि पर्याय रूप में उसने गाय देखी है । प्रश्न यही है कि पूर्ण सत्य को समझा जाय और वचन एवं व्यवहार मे उस सत्य को प्रकट किया जाय । तब समन्वय का व्यवहार बनता है और समन्वित सत्य ही पूर्ण सत्य का रूप लेता है ।

प्रार्थना में कवि ने सूक्ष्म दृष्टि से सत्य का आकलन कर कहा है—

वचन निरपेक्ष, व्यवहार झूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष व्यवहार सांचो ।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल,
साभली आदरी कांई राचो ॥

कोई वचन विपरीत बात कहता है, वह झूठ है—वह भ्रम मात्र है। यह बहुत बड़ी बात बताई है। भगवान् महावीर के समय की बात बता दूं। आपने भगवान् महावीर की जीवनी सुनी है। उनके एक पुत्री थी, जिसका विवाह जमाली के साथ हुआ था। जब महावीर सत्य साधना पूर्ण कर चुके, तब जमाली की भी इच्छा सत्य की खोज में निकलने की हुई। वह भी दीक्षित हो गया तथा साधु धर्म की उत्कृष्ट रीति से पालना करने लगा। एक बार वह बीमार हो गया तो घबराते हुए उसने छोटे सन्तों से कहा कि पाट पर कपड़ा बिछा-कर उसके लिये जल्दी शैय्या तैयार करदो। तदनन्तर सन्तों से उसने पूछा—शैय्या तैयार हो गई? उन्होंने उत्तर दिया—हां, हो गई—आप पधार जाइये। उसने जाकर देखा तो यों शैय्या तैयार हो गई थी लेकिन उसका थोड़ा सा हिस्सा बाकी रह गया था। उसने सन्तों से कहा—शैय्या पूरी तैयार नहीं है—तुम झूठ बोल गये। सन्तों ने कहा—नहीं हम शिष्ट शब्द बोले हैं। भगवद् वाणी के अनुसार सत्य कहा है। आपने यह नहीं पूछा था कि पूरी शैय्या तैयार हो गई है या नहीं? यदि आप ऐसा पूछते हो तो हम कहते कि पूरी शैय्या तैयार नहीं हुई है। यह सिद्धान्त आपके ही संसार पक्ष के श्वसुर भगवान् महावीर का है लेकिन जमाली नहीं माना और तब से विपरीत कथन करना शुरू किया। कारण वह गहराई से नहीं समझ पाया कि सत्य की सापेक्ष दृष्टि क्या होती है तथा सापेक्ष दृष्टि के नहीं रखने पर कैसे गलत निकलते हैं और कैसा व्यव-हार बनता है?

सत्यासत्य का निर्णय सम्यक् दृष्टि पर आधारित :

वैसे ही एक जुलाहा कपड़ा बुन रहा है । अभी उसने पूरा कपड़ा बुना नहीं, मात्र धागे डाले हैं, तब भी यही कहा जाता है कि वह कपड़ा बुन रहा है । एक भी धागा बाकी रहेगा, तब तक वह कपड़ा कैसे कहलायेगा ? इन तर्कों के साथ छोटे सन्तों ने जमाली को कहा कि भगवान् के सिद्धान्त पर शंका लाना उचित नहीं हैं । सत्यासत्य का निर्णय इस सिद्धान्त के अनुसार सम्यक् दृष्टि पर आधारित करके निकालना चाहिये । भगवान् वीतराग हैं और उन्होने परिपूर्ण सत्य को समझा है, तभी यह सिद्धान्त बनाया है । यदि किसी बात को अपेक्षा से नही लेते हैं तो साधु को झूठ लग जाता है । कोई कहे—'चल' जिसका अर्थ है चलो, लेकिन यह भी अपेक्षा कथन है । इसी तरह यह नही कहा गया था कि पूरी शैय्या तैयार हो गई है—इसलिये जो कहा गया, अपेक्षा से कहा गया और वह झूठ नही था ।

परिपूर्ण सत्य के दृष्टिकोण को लेकर चलेंगे तभी कथन और व्यवहार में सत्य आयेगा, नही तो खंड सत्य भी असत्य सिद्ध हो जायगा क्योंकि सत्यासत्य के निर्णय के लिये भी इसी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता होती है । भगवान् के इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर वैज्ञानिको ने भी काफी अनुसंधान किया है और उनकी जो थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी है, वह इसी सिद्धान्त पर आधारित है । सोजत सम्मेलन में विदेशो में घूमे हुए एक सज्जन ने मुझे पुस्तकों के माध्यम से बताया था कि जर्मनी आदि देशों मे सापेक्ष सत्य पर काफी कारगर खोज हुई हैं ।

एकान्तवाद जन्मान्धों की तरह ज्ञान का अंधापन है

जमाली आचरण, कठोर क्रिया व व्यवहार की दृष्टि से ठीक चल रहा था, किन्तु भगवान् के वचनों मे शंका लाकर सापेक्ष सत्य को नही समझ सका तो वह झूठा हो गया और उसने अपने जीवन को पतित बना लिया । वह पूर्ण सत्य को मानता था, लेकिन अपेक्षा की दृष्टि से विचार नही कर सका । अपेक्षा दृष्टि से सोचता तो शैय्या वाली बात को सत्य मान लेता । यह तो वैसी ही बात हो गई जैसे हाथी के पैर को पकड कर उस जन्मांध ने कह दिया कि हाथी तो खभे जैसा ही है । वास्तव मे एकान्तवाद या निरपेक्ष वचन तथा व्यवहार सम्यक् ज्ञान की दृष्टि से अंधापन होता है ।

एकान्तवाद का पोषण करने वाला इस चतुर्गति संसार मे रुलता है—उसे मोक्ष नहीं मिलता । 'वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी काई राचो'—यह गुजराती भाषा में है । भगवान् ने अपनी वाणी के अन्दर

यह आदेश दिया तो क्या ज्ञान रूप में दिया या अपेक्षा दृष्टि से ? एकान्त रूप या मार्ग भगवान् का नहीं है । भगवान् की आज्ञा जिस रूप में है, उसे रूप में मानें । साधु जीवन की दृष्टि से पूर्ण सत्य का निष्ठापूर्वक पालन किया जाना चाहिये । भगवान् की आज्ञा के समान गुरु की आज्ञा को जानें और अपेक्षावाद या अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को गहराई से समझें, उस पर चिन्तन करें तथा उसको अपने जीवन में उतारें ।

जैसे साधुमर्यादा बताई गई है, वैसे ही श्रावक वर्ग के कर्तव्यों का भी निर्देश किया गया है । उपासक दशांग सूत्र में कैसे वचन को विपरीत आचरण बताया है—उसमें सांकेतिक सिद्धान्त कैसे क्रियान्वित हो रहा है, इन सब बातों पर आपको भी चिन्तन करना चाहिये । ऐसा नहीं करेंगे तो कहीं न कहीं अपनी हठ के आवेश में आकर एकान्तवाद का पोषण कर बैठेंगे । जमाली यदि अज्ञानपूर्ण हठ में नहीं पड़ता तो गौतम स्वामी जैसा भगवान् का निकटतम भक्त सिद्ध हो जाता ।

आज्ञा की आराधना, धर्म की साधना :

कोई विषय आपकी समझ में नहीं आता है तो जिज्ञासा वृत्ति से पूछिये और समाधान लीजिये । तब आपको सभी वस्तु स्पष्ट ज्ञात होगी तथा सत्यासत्य का निर्णय हो सकेगा । सत्यमार्ग पर चलना शुरू करेंगे तभी सत्य के पूर्ण स्वरूप को जानने की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे । सत्य के पूर्ण स्वरूप को जानना ही वास्तव में सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि करना है ।

शुद्ध सम्यक्त्व आत्मजागृति का आधार[1]

विमल जिन दीठा लोयण आज.........

जीवन को अत्यधिक पवित्र बनाने का जब आन्तरिक भाव जागृत होता है, तब उन अन्तर्भावों को विकसित करने के लिये उनके अनुरूप किसी विशिष्ट स्वरूप को सामने रखकर उन भावों को सम्बल देना होता है। इसको यों कहें कि आत्म-जागृति का मूल मे ऐसा सुदृढ आधार स्थापित कर देना होता है, जिस पर विकसित जीवन का निर्माण किया जा सके। ऐसे सुदृढ आधार के रूप मे शुद्ध सम्यक्त्व का निर्देश दिया गया है। देव, गुरु एव धर्म के 'सु' याने श्रेष्ठ तत्त्व को पहिचानना तथा उन पर प्रगाढ श्रद्धा बनाकर आत्मजागृति के मार्ग पर प्रगति करना—यह जागृति की उपलब्धि का मूलाधार बन जाता है।

महिमा, नमस्कार मंत्र की :

जहां तीर्थंकर देवों ने जगत् के प्राणियों के समक्ष आत्मजागृति के उपदेश रखे हैं, उन उपदेशों के अन्दर सभी तरह के विषय तथा सभी तरह की अवस्थाओं का वर्णन आया है। लेकिन उन उपदेशो के संकलन के पूर्व में

नमस्कार मंत्र को रखकर उन्होंने सभी का ध्यान एक श्रेष्ठतम रचना की ओर
खींचा है। यह नमस्कार मंत्र श्रेष्ठतम मंत्र है क्योंकि यह मात्र गुणाधारित
गुणप्रेरक है। समग्र जीवन का निष्कर्ष तथा समस्त पवित्र भावों का संक
इस एक ही मंत्र में हो गया है। अलग-अलग स्थलों पर अलग-अलग का
अलग-अलग नाम के मंत्रों का दृश्य देखने को मिलता है, लेकिन वे सब
व्यक्ति-परक मात्र होते हैं। किसी स्थल पर मंत्रों का उच्चारण है तो
किसी देवी या देव की आराधना की भावना से है। किसी स्थल पर कहीं
के नाम से निर्देश है तो कहीं पर व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन मात्र है।
लेकिन अन्यत्र ऐसा कोई मंत्र नहीं मिलता, जहां सिर्फ गुणों के आधार पर
मंत्र की संरचना हुई हो।

ऐसा मंत्र नहीं मिलने का कारण भी स्पष्ट है। उन मंत्रों के बना-
वाले या उनका निर्देशन करने वाले पूर्ण पुरुष नहीं थे और अपूर्ण आत्मा
मनुष्य का किसी व्यक्ति विशेष के साथ पक्ष करने का ही प्रसंग बनता है
राग और द्वेष की परिणति के कारण व्यक्ति सही स्वरूप का प्रतिपादन
कर पाता है। सही स्वरूप की पूर्ण प्रतीति तभी हो पाती है, जब व्यक्ति रा
और द्वेष के निम्न भावों से मुक्त हो जाता है और वह वीतराग बन जा
है। जिन आत्माओं ने सबसे पहले अपने अन्दर में रहने वाले राग और द्वे
को दूर किया तथा सभी प्रकार के विकारपूर्ण संस्कारों को धोकर अपने आप
को उज्ज्वल बनाया, उन आत्माओं की गहरी अनुभूति से जो मंत्र उद्भूत हु
वह यह नमस्कार मंत्र है। यह परम श्रेष्ठ और शुद्ध गुणात्मक मंत्र इस भाँ
सिद्ध हुआ कि इसमें संसार की समग्र विकसित आत्माओं का शुद्धतम स्व
समाविष्ट हो जाता है।

अवलम्बन लेने वाला भी स्थायित्व लेकर नहीं चल सकता है, कारण शरीर की अवस्थाएं भी बाल्यकाल से लेकर मृत्यु पर्यन्त भिन्न-भिन्न रूपो मे बदलती रहती है। जब तक ऐसे तत्त्व की आराधना नही की जाय जो चिरस्थायी एवं शाश्वत हो, तब तक वह आराधना न तो सच्ची बन सकती है और न ही अपने जीवन विकास की दृष्टि से सफल बन सकती है। वह शाश्वत तत्त्व है आत्मतत्त्व, जिसके मौलिक गुणो मे कभी कोई परिवर्तन नही आता है—उसकी पर्यायें अस्थायी तौर पर भले ही बदलती रहें। इसलिये आत्मतत्त्व ही आराधना के लिये श्रेष्ठतम तत्त्व माना गया है और 'नमस्कार मंत्र मे इसी आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता को आधार बना कर गुणधारियो की गुणदृष्टि से वंदना की गई है, व्यक्ति-दृष्टि से नही।

बाह्य पर ही न अटकें।

नमस्कार मत्र की प्रबल प्रेरणा यही है कि जिस आत्मा को जागृत बना कर एक आत्मोन्मुखी व्यक्ति साधक बनता है शास्त्रज्ञ बनकर उपाध्याय होता है, अपनी प्रखर प्रतिभा से आचार्य के पद को सुशोभित करता है एवं आत्मशत्रुओं का विजेता बनकर अरिहंत कहलाता और परम सिद्धि को प्राप्त करके सिद्ध बनता है, उसी आत्मा को प्रत्येक प्राणी जागृत बनावे। किसी भी बाह्य स्वरूप की आराधना मे मोह घुसा रहता है और जहा मोह है, वहां राग और द्वेष की परिणति भी है। ऐसी दशा में आत्मा जागृत नहीं होती है। गुणशीलता के आधार मात्र पर समुच्चय रूप मे विकसित आत्माओ को नमस्कार करना अपनी आत्मा को उस गुणशीलता के प्रति उद्‌बोधन देना है। इसलिये इस आत्मतत्त्व को स्वानुभव के आधार पर तौलकर शुद्ध सम्यक्त्व की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये।

मैं सोचता हूं कि अधिकांश भाई और बहिन नारियल को जानते होगे। 'होगे' शब्द का प्रयोग इसलिये कर रहा हूं कि शायद बच्चे पूरी तरह नही जानते हों, लेकिन अधिकांश नारियल को जानते हैं कि यह अमुक तरह का फल है। इस फल को जब ग्रहण करने की भावना बनती है तो किस भावना से इसको ग्रहण करते हैं? उसके ऊपर की आकृति-ऊपर की जटा अच्छी लगती है, इसलिये ग्रहण करते हैं या टोपसी के भीतर मे रहने वाली चीज को ग्रहण करना चाहते हैं? आपका ग्रहण करने का ध्यान अन्दर वाली चीज पर होता है। जटा को नहीं देखते, टोपसी को नही देखते, बल्कि टोपसी मे जो चिटक होती है, मात्र उसको ही देखते हैं। उस चिटक के लिये ही

नारियल को खरीदते हैं। कोई भी जटा या टोपसी पर नहीं अटकता, प्रत्येक गिटक पर ही ध्यान रखता है और गिटक को ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

जब व्यवहार पक्ष में आप इस प्रकार का फल देखते हैं और उसकी सफलता पाते हैं—यह समझते हैं तो आत्मतत्त्व की प्रतीति की ओर निष्कर्ष-पूर्वक क्यों नहीं आगे बढ़ सकते हैं? क्यों पोशाक और शरीर पर अटक जाते हैं? अच्छे वस्त्राभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित देखते हैं तो मन उसमें क्यों अटक जाता है? वह अन्दर में क्यों नहीं पहुंचता? जटा और टोपसी की तरह सजावट और शरीर निरर्थक होते हैं, गिटक की तरह सार्थक तत्त्व होता है आत्मतत्त्व। आत्मतत्त्व की अनुभूति कर लेते हैं तो जटा और टोपसी की निरर्थकता भी समझ में आ जाती है, बल्कि आत्मतत्त्व के निर्देशन में शरीर और बाह्य साधनों को भी कैसे सार्थक बना सकते हैं—यह रहस्य भी समझ में आ जाता है।

इसलिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वास्तविकता के साथ पहिचानने का यत्न किया जाना चाहिये। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके ही तीर्थंकरों ने सर्वं सिद्धि प्राप्त की तथा सभी भव्य जनों को उसे प्राप्त करने का निर्देश दिया। शास्त्रकारों ने इस आत्मा को मोक्ष के पथ पर मोड़ने के लिये 'अरिहंतो महदेवो" कहा। वास्तव में आत्मतत्त्व की अनुभूति से ही आत्म जागृति के पुष्ट आधार का निर्माण होता है।

तीन तत्त्व में प्रवृत्ति, आत्मा में जागृति।

एक बच्चा ऐसे स्थान पर बंद हो गया है, जहां पर वह समझता है कि उसकी सुरक्षा हो रही है। यदि वह बाहर जाता है तो बच्चो को पकड़ने वाला व्यक्ति खड़ा है, जो बच्चों को पकड़ कर ले जाता है और उनको मार डालता है। यह बात बच्चे के ध्यान मे है। वह बच्चा उस एकान्त स्थान मे रहना चाहता है क्योंकि उसको बाहर खतरा दिखाई देता है। उस बच्चे को समझिये कि किसी बुजुर्ग आदमी ने बाहर से आवाज दी—बाहर निकल आओ, कोई खतरा नही है। फिर भी बच्चा उसकी बात पर भी एकदम विश्वास नही करता है। लेकिन अपनी तुतलाती बोली मे कोई दूसरा बच्चा उसको बाहर खेलने के लिये पुकारता है तो उसे विश्वास आ जाता है और बाहर निकल कर आ जाता है। इसी तरह तीतर की बोली सुनकर तीतर निकलता है। इसका कारण होता है भय और उस भय का निवारण अपने ही समानधर्मा के आह्वान से होता है।

अपनी यह आत्मा भी दीर्घकाल से अति भयग्रस्त हो रही है। ८४ लाख योनियो मे भटकते हुए इसने न जाने कितने प्रहार सहे और कितनी कष्टप्रद यातनाए भुगती ? वह अब इस मानव-शरीर में आकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर रही है और उसके साथ ही रहना प्रसन्द करती हैं, चाहे उसमे विकार हों, लेकिन बाहर निकलना पसन्द नही करती है। लेकिन इस आत्मा के समानधर्मा या सजातीय तत्त्व यदि इसको जगावें तो यह जाग सकती है और अपने कल्याण मे सचेष्ट बन सकती है। इसलिये ज्ञानीजनो का कथन है कि सामान्यजन सहसा आध्यात्मिक जीवन मे प्रविष्ट नही हो जाता है। उस प्रवेश के लिये स्वजातीय तत्त्वों का आह्वान चाहिये—उनकी प्रेरणा चाहिये।

आत्मा के स्वजातीय कौन होते हैं ? आत्मा की स्वजातीय होती है आत्मा—चाहे वह अविकसित हो या विकसित। अविकसित तो स्वयं आत्मा है ही, इसलिये प्रेरणा उसको विकसित आत्माओं के शुद्ध स्वरूप से ही मिल सकती है। यह स्वजातीय पूर्ण विकसित आत्मा होती है, अरिहंत के रूप मे। इस कारण अरिहंत को ही सुदेव कहा गया है। जब अरिहत का स्वरूप एक विकासकामी आत्मा के सामने निरन्तर रहता है तो उसके जीवन मे आत्मजागृति का संकल्प सुदृढ बन जाता है और तब उसके बीच मे जो भी कठिनाइयां आती हैं, उनको वह सत्साहस एव सत्पुरुषार्थ से दूर करता है। वह सोचता है कि मेरी आत्मा परमात्मा नही है लेकिन परमात्मा बनने की क्षमता उसमे है। जैसा अरिहंत ने विकास किया है, वही विकास मेरी आत्मा भी कर सकती है। इस प्रकार अरिहंत और सिद्ध देव हुए तथा सद्गुरु और तीसरा तत्त्व तीर्थंकर देवो

नारियल को खरीदते हैं। कोई भी जटा या टोपसी पर नहीं अटकता, प्रत्येक चिटक पर ही ध्यान रखता है और चिटक को ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

जब व्यवहार पक्ष में आप इस प्रकार का फल देखते हैं और उसकी ग्राह्यता कहां है—यह समझते हैं तो आत्मतत्त्व की प्रतीति की ओर विचार-पूर्वक क्यों नहीं आगे बढ़ सकते हैं ? क्यों पोशाक और शरीर पर अटक जाते हैं ? अच्छे वस्त्राभूषणों में अच्छे शरीर को सुसज्जित देखते हैं तो मन उनमें क्यों अटक जाता है ? वह अन्तर में क्यों नहीं पहुंचता ? जटा और टोपसी की तरह सजावट और शरीर निरर्थक होते हैं, चिटक की तरह सार्थक तत्त्व होता है आत्मतत्त्व। आत्मतत्त्व की अनुभूति कर लेते हैं तो जटा और टोपसी की निरर्थकता भी समझ में आ जाती है, बल्कि आत्मतत्त्व के निर्देशन में शरीर और बाह्य साधनों को भी कैसे सार्थक बना सकते हैं—यह रहस्य भी समझ में आ जाता है।

इसलिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आन्तरिकता के साथ पहिचानने का यत्न किया जाना चाहिये। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर के ही तीर्थंकरों ने स्वयं सिद्धि प्राप्त की तथा सभी भव्य जनों को उसे प्राप्त करने का निर्देश दिया। शास्त्रकारों ने इस आत्मा को मोक्ष के पथ पर मोड़ने के लिये 'अरिहंतो मह्रदेवो" कहा। वास्तव में आत्मतत्त्व की अनुभूति से ही आत्म जागृति के पुष्ट आधार का निर्माण होता है।

तीन तत्त्व में प्रवृत्ति, आत्मा में जागृति।

आत्मतत्त्व की अनुभूति तब होगी, जब पहले आत्मा की पहिचान कर लेंगे और आत्मा की पहिचान के माध्यम रूप तीन तत्त्व हैं—देव गुरु तथा धर्म। शास्त्रीय भाषा का सीधा अर्थ लेते हैं तो देव, गुरु तथा धर्म-इन तीन तत्त्वों का स्वरूप पहले समझा जाना चाहिये। वह स्वरूप इतनी उत्कृष्ट श्रेणी का है कि उससे बढ़कर अन्य स्वरूप नहीं है। उस स्वरूप की तुलना में ही अपने वर्तमान आत्मस्वरूप को परखना होता है। तब उसे प्रतीत होता है कि उसके अन्दर में रही हुई जो तृष्णापूर्ण लालसाएं हैं और विकारों में मिली हुई जो कलुषित वृत्तियां हैं, उनका त्याग किया जायगा, तभी आत्मा शुद्ध स्वरूपी बन सकेगी, बल्कि शुद्ध स्वरूप को पाने की जागृति भी तभी बनेगी। इस प्रकार का शुद्ध स्वरूप देव, गुरु, धर्म की सच्ची पहिचान पर तथा सम्यक्त्व की पृष्ठभूमि पर जागता है और निखरता है।

एक बच्चा ऐसे स्थान पर बंद हो गया है, जहां पर वह समझता है कि उसकी सुरक्षा हो रही है। यदि वह बाहर जाता है तो बच्चो को पकड़ने वाला व्यक्ति खड़ा है, जो बच्चों को पकड़ कर ले जाता है और उनको मार डालता है। यह बात बच्चे के ध्यान में है। वह बच्चा उस एकान्त स्थान मे रहना चाहता है क्योकि उसको बाहर खतरा दिखाई देता है। उस बच्चे को समझिये कि किसी बुजुर्ग आदमी ने बाहर से आवाज दी—बाहर निकल आओ, कोई खतरा नही है। फिर भी बच्चा उसकी बात पर भी एकदम विश्वास नही करता है। लेकिन अपनी तुतलाती बोली मे कोई दूसरा बच्चा उसको बाहर खेलने के लिये पुकारता है तो उसे विश्वास आ जाता है और बाहर निकल कर आ जाता है। इसी तरह तीतर की बोली सुनकर तीतर निकलता है। इसका कारण होता है भय और उस भय का निवारण अपने ही समानधर्मा के आह्वान से होता है।

अपनी यह आत्मा भी दीर्घकाल से अति भयग्रस्त हो रही है। ८४ लाख योनियो मे भटकते हुए इसने न जाने कितने प्रहार सहे और कितनी कष्टप्रद यातनाए भुगती ? वह अब इस मानव-शरीर मे आकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर रही है और उसके साथ ही रहना प्रसन्द करती हैं, चाहे उसमे विकार हो, लेकिन बाहर निकलना पसन्द नही करती है। लेकिन इस आत्मा के समानधर्मा या सजातीय तत्त्व यदि इसको जगावें तो यह जाग सकती है और अपने कल्याण मे सचेष्ट बन सकती है। इसलिये ज्ञानीजनो का कथन है कि सामान्यजन सहसा आध्यात्मिक जीवन मे प्रविष्ट नही हो जाता है। उस प्रवेश के लिये स्वजातीय तत्वो का आह्वान चाहिये—उनको प्रेरणा चाहिये।

आत्मा के स्वजातीय कौन होते हैं ? आत्मा की स्वजातीय होती है आत्मा—चाहे वह अविकसित हो या विकसित। अविकसित तो स्वयं आत्मा है ही, इसलिये प्रेरणा उसको विकसित आत्माओं के शुद्ध स्वरूप से ही मिल सकती है। यह स्वजातीय पूर्ण विकसित आत्मा होती है, अरिहत के रूप मे। इस कारण अरिहत को ही सुदेव कहा गया है। जब अरिहत का स्वरूप एक विकासकामी आत्मा के सामने निरन्तर रहता है तो उसके जीवन मे आत्मजागृति का संकल्प सुदृढ बन जाता है और तब उसके बीच मे जो भी कठिनाइयां आती हैं, उनको वह सत्साहस एव सत्पुरुषार्थ से दूर करता है। वह सोचता है कि मेरी आत्मा परमात्मा नही है लेकिन परमात्मा बनने की क्षमता उसमे है। जैसा अरिहंत ने विकास किया है, वही विकास मेरी आत्मा भी कर सकती है। इस प्रकार अरिहंत और सिद्ध देव हुए तथा सद्गुरु और तीसरा तत्त्व तीर्थंकर देवो

द्वारा निर्देशित धर्म है । इन तीनों की तरफ प्रवृत्ति रहे तो फिर आत्मजागृति आसान हो जायगी ।

आत्मजागृति का मन्त्र :

सम्यक्त्व की शुद्धि का मूल है सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म के प्रति पूर्ण आस्था और इस मूल की मजबूती के साथ ही आत्मा का पवित्र स्वरूप निखरने लगता है । यदि ये तीनों तत्त्व शुद्ध रूप मे नहीं हैं अथवा आस्था का रूप शुद्ध नहीं है तो आत्मस्वरूप मे भी अपवित्रता बनी रहती है । बिना शुद्ध सम्यक्त्व के कितनी ही साधना की जाय, तप को आराधा जाय या कष्टकर क्रियाएं साधी जायं, वे आत्मस्वरूप को निखारने में सहायक नहीं बनती हैं । इसी सत्य का संकेत प्रार्थना की पंक्तियों में दिया गया है—

> देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो केम रहे;
> केम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ।
> शुद्ध श्रद्धान बिना सर्व किरिया करी,
> छार पर लीपणु तेह जाणो ॥

देव, गुरु एवं धर्म की शुद्धि कैसे रहे ? इस शुद्धि के बिना जितने भी साधनामय क्रियाओं के प्रयोग किये जायेंगे, वे सब प्रयोग मोक्ष की दृष्टि से निष्फल ही रहेंगे । कवि ने उपमा दी है इसके लिये कि वह 'छार पर लीपणु' है । राख के ढेर पर कोई बहिन लीपने का प्रयोग करे तो क्या वह कभी भी सफल हो सकेगी? वैसे ही सम्यक्त्व-हीन जीवन में मनुष्य कितनी ही कठिन क्रियाओं की साधना करले—गौतम स्वामी सरीखा तप करले, तब भी उसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

यह जो बात मैं बतला रहा हूं, वह मेरी नहीं है—वीतराग देवों की बतलाई हुई बात है । अरिहंत और सिद्ध में स्वरूप की दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं होता. किसी का भी नाम लिया जाय एक ही बात है । सच्चे देव ये सिद्ध और अरिहंत हैं । देवों के नाम की दृष्टि से चार जाति के देव बताये गये हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक । लेकिन सम्यक्त्व की दृष्टि से इन देवों का कोई अभिप्राय नहीं है । स्वर्ग के देवों का जीवन भी मनुष्यों की तरह भोगलिप्त होता है, अतः उनका नाम देव है, वे सम्यक्त्व की दृष्टि से आराध्य देव नहीं है । आराध्य देव सिद्ध और अरिहंत हैं, जिन्होंने स्वयं साधना की, सिद्धि प्राप्त की तथा संसार को त्याग और संयम का मार्ग बताकर

आत्मस्वरूप को पवित्र बनाने का उपदेश दिया । ये ही देव सुदेव हैं, इनके उपदेशों को जीवन मे उतारने वाले गुरु सुगुरु हैं तथा इनके उपदेश ही सुधर्म है । एक सम्यक्त्वी सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म मे सुदृढ़ आस्था रखता है ।[1]

जिन भव्यों को अपनी आत्मा के पवित्र स्वरूप को प्रकट करना है उन्हे सिद्ध देवो के जीवन और उपदेशो का अनुसरण करना चाहिये । देवयोनि के देव तो मनुष्य योनि के मनुष्यो के समान ही होते हैं बल्कि धर्म में कठिन पुरुषार्थ करने की दृष्टि से मनुष्य से भी असमर्थ होते है । साधु के लिये जो व्रतधारी श्रावक तथा सम्यक्त्वी होते हैं, वे छोटे भाई के समान होते हैं । सम्यक्त्व की शुद्धि का मूल पकडने के बाद ही व्रतधारण होता है तथा श्रावकत्व एव साधुत्व को अंगीकार करने की वृत्ति बनती है । यह सम्यक् दृष्टि चौथी कक्षा मे है और व्रतधारी श्रावक पांचवी कक्षा मे होता है, गुणस्थान के क्रम से। इस कारण देवयोनि के देवों को सम्यक् दृष्टि या श्रावक नमस्कार नहीं करे । करेंगे तो देव आकर सम्यक् दृष्टि या सुश्रावक को नमस्कार करेंगे ।

लेकिन आज आवश्यक आस्था के अभाव मे दृश्य कुछ उलटा सा ही दिखाई देता है । देवयोनि के देवो को अपनी सांसारिक लालसाओ के पीछे नाक रगड-रगड़ कर नमस्कार किया जाता है और सुदेव, सुगुरु को रूढिगत रीति से नमस्कार कर लिया जाता है । महाराज को नमस्कार करने के लिये भी क्या रोजाना आते हैं ? कोई भाई बहिन मन मे दु खित होकर इस भावना से भी आते होगे कि महाराज कुछ ऐसा मत्र बतादे कि सारे सकट टल जाय। उन्हें कहा जाये कि यह नमस्कार मंत्र ही महामत्र है तो वे कह देते हैं कि यह मंत्र तो हमे याद है—कोई दूसरा मंत्र बताएं । इसका मतलब क्या हुआ ? यही कि नमस्कार मत्र पर विश्वास नही है । जरा रूढ मनोदशा हटाकर चेतन को जागृत बनावें तो मालूम पड जाय कि नमस्कार मंत्र से बढकर अन्य कोई मंत्र नही है । यह मंत्र आत्मजागृति का मंत्र है—अरिहतो, सिद्धों और साधको की उपासना का मत्र है । यही सम्यक्त्व का आधार है । शुद्ध श्रद्धान और आस्था की आवश्यकता है और यदि ऐसा होगा तो आत्मस्वरूप मे पवित्रता का विकास अवश्य होगा ।

---

१. अरिहन्तो महदेवो जावज्जीवा य सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्त तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ आवश्यक सूत्र ।

अडिग आस्था से ही सम्यक्त्व चमकता है ।

देव, गुरु और धर्म पर अडिग आस्था और अटल विश्वास होना चा
इतना विश्वास कि दुनिया मे उलटफेर हो जायं मगर विश्वास मे कमी
आये । परीक्षा मे भी वह विश्वास सौ टका खरा उतरे, तभी सम्यक्त्व चम
है और आत्मजागृति का क्रम आगे बढ़ता है ।

कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि थोड़े दिनों तक नमस्कार मंत्र का
किया और अभिलाषा रखी कि मेरे संकट टल जायेंगे, लेकिन नही टले तो
लेते हैं कि इस मंत्र में कोई सार नहीं है, इसलिये अन्य देवों की उपासना क
लेकिन वे यह नही सोच पाते कि वास्तविकता क्या है ? एक बच्चे को बु
होता है तथा त्रिदोष, वात, पित्त और कफ की प्रबलता से सन्निपात हो ज
है । उस समय में वह बच्चा अगर माता से मीठा दूध मांगता है तो क्या म
उसको मीठा दूध देगी ? सन्निपात के रोगी के लिये मीठा दूध जहर के स
होता है । यह बात माता जानती है । बच्चा भूख से तड़पता है, लेकिन
कारण माता उसको दूध नही देती है । अब जो बच्चा दूध नही देने के
कारण को जानता है, वह तो माता पर से अपना विश्वास नही हटाता
लेकिन ऐसा नही जानने वाला बच्चा अज्ञान दशा में माता पर से विश्वास
देता है । ऐसी ही अज्ञान मनोदशा जिस व्यक्ति की होती है, वह नम
मंत्र पर से अपना विश्वास तोड़ देता है ।

मगध सम्राट् श्रेणिक में पहले सम्यक् दृष्टिपना नही था । प
अनाथीमुनि रूपी 'पारस' के सम्पर्क से उसका आत्मा रूपी लोहा स्वर्ण बन
दमकने लगा । फिर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति आस्था इतनी दृढीभूत
गई कि उसकी महिमा स्वर्गलोक तक पहुंची । इन्द्र ने देवसभा में उनकी स
हना की । उस सराहना को एक देव सहन नहीं कर सका—उसकी परीक्षा
की उसने ठानी । यह सोचकर वह भगवान् महावीर के समवसरण में पहुंच
वहां उसने जो पहला रूप दिखाया, वह बड़ा आश्चर्यकारी था । वह देव
रूप में नही पहुंचा—एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति के रूप मे पहुंचा, जिसके सारे श
मे कोढ़ हो रहा था और उससे भयंकर दुर्गन्ध फूट रही थी । राजा श्रे
भी समवसरण मे बैठे हुए थे । देवता ने ऐसा नारकीय दृश्य उपस्थित क
श्रेणिक को अपनी आगे की नरक गति का भान दिला कर उसकी श्रद्धा
डिगाना चाहा था, लेकिन सम्राट् अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं हुआ ।

इस बारे में आप लोग क्या सोचते हैं ? आपकी यदि कोई गल

तो एकान्त में बता देना चाहिये। यदि गलती भरी सभा में बताई जाती है यह बहुत बड़ा अपमान है। लेकिन ऐसा वह सोचता है, जिसमें सम्यक् ष्टि के भाव नहीं होते हैं। जिसमें शुद्ध सम्यक्त्व है, वह तो यही सोचता है उसकी गलती यदि भरी सभा मे भी बता दी गई है, तब भी खुशी की ही त है। लेकिन जिनकी श्रद्धा कच्ची होती है, उनको यदि व्यक्तिगत रूप से छ भी नही कहा जाय और शास्त्रों का अर्थ बताते हुए समुचित रूप से तथा त्वो का प्रतिपादन करते हुए कदाचित् सन्तो के मुख से कोई ऐसी बात निकल ाय जो उस पर घटित हो, तब भी वह यह सोच लेता है कि महाराज ने सकी बात प्रकट कर दी है। तब भी उसकी श्रद्धा मे फर्क आने लगता है ह देव सोचने लगा कि इतना कह देने पर भी सम्राट् की श्रद्धा मे कोई अन्तर ही आया, जिससे सिद्ध है कि सम्राट् की श्रद्धा वैसी ही अडिग है, जैसी कि न्द्र ने बताई थी। फिर भी उसने एक परीक्षा और लेने की सोची।

उस देव ने अपनी देवशक्ति से एक साधु का रूप बनाया और एक ालाव के किनारे चलने लगा, जिस ओर मे श्रेणिक अपने राजभवन की ओर ौट रहे थे। सम्राट् की दृष्टि उस पर पडी। उन्होने सोचा कि यह साधु ाखता है। साथ ही देखा कि उसके कधे पर एक जाल करंडी पडी है। उन्हे ाचार आया कि यह जाल करंडी लेकर चल रहा है तो साधु वेश को लजा ा है। वे साधु के सामने पहुचे और पूछा—तुम कौन हो ? उसने उत्तर ाया—मैं भगवान् महावीर का साधु हूं। फिर पूछा -तो यह जाल करडी क्यो रखी है ? साधु ने जवाब दिया—मैं पहले क्षत्रिय था सो मास मछली खाने ी आदत है—वह छूटती नही है। सम्राट् ने कहा—महावीर के साधु तो ऐसे ाुसक नही होते हैं, तुम धूर्त हो। साधु ने कहा—महावीर के कई साधु ऐसे । राजा ने कहा—तुम गलत कहते हो—मैं राजा हू तुम्हे दड दूंगा। साधु क्षमा मांग लो। राजा आगे बढ़ा तो एक बाग मे क्या देखता है कि एक ाधु कच्चे फल तोडकर खा रहा है। ऐसी ही बातचीत वहा भी हुई। साधु कहा—महावीर के कई साधु ऐसा ही करते हैं। सम्राट् ने कहा—तू पतित , सो अन्य साधुओं पर भी लाछन लगाता है। राजा ने दंड देने की धमकी ी तो उसने भी क्षमा मांग ली। राजा आगे बढा तो देखा कि एक साध्वी ूलमाला और जापे की सामग्री लेकर बैठी है। राजा के पूछने पर कहने लगी— ं चन्दनबाला जी की शिष्या हूं। राजा ने कहा—तुम गर्भवती हो और साध्वी ो। उसने बताया—कई साध्विया ऐसी हैं। राजा को विचार आया कि यह कितनी दुष्टा है ! पवित्र साध्वियो पर लाछन लगा रही है। राजा ने देखा

कि बच्चा होने ही वाला है। उसको कठोर दंड की धमकी दी लेकिन एक क
मे उसके जापे की व्यवस्था की। थोड़ी देर में एक सुन्दर बालक उसके जन्मा
राजा ने बच्चे को हाथ मे लेने की कोशिश की तो साध्वी भी गायब
बच्चा भी गायब। राजा आश्चर्य से क्या देखता है कि सामने एक दि
रूप खड़ा है। देवता ने राजा को नमस्कार किया और कहा कि ये साधु
साध्वी वास्तविक नही थे। उसने परीक्षा की सारी बात कही और राजा
अडिग श्रद्धा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देवता ने कहा—आप खरे सम
दृष्टि हैं और आपकी श्रद्धा जैसी कि इन्द्र ने बताई, वैसी ही सराहनीय है
आपको कुछ भेंट चढ़ाकर जाना चाहता हूं, आप कुछ मांगिये।

सम्राट् ने कहा—मैं तो अपनी स्वाभाविक भावना के साथ चल
था और तुम परीक्षा की बुद्धि से चल रहे थे। लेकिन तुम मांगने की ही
कहते हो तो मेरा मांगना यह है कि ऐसी परीक्षा कभी सम्यक् दृष्टि की
करना। यदि उसकी श्रद्धा जरा भी कच्ची हो तो वह धर्म से भटक जाय
भगवान् के प्रति आस्था से विचलित बन जाय। देव ने उस बात को स्वी
किया। फिर उसने अट्ठारहसरा एक विशिष्ट दिव्य हार तथा दो मिट्टी के
राजा को भेंट किये। देव के आग्रह से राजा ने उन्हें ग्रहण किया और र
भवन की ओर बढ़ते हुए चले गये।

शुद्ध सम्यक्त्व का प्रकाश आत्मा का विकास :

आत्मा चेतनाशून्य बनती है या बनी रहती है तो क्यों? मिथ्या
के वशीभूत होकर। मिथ्यात्व के वश में रहने से न तो आत्मा जागती है
न अपनी उन्नति का मार्ग ही खोज पाती है। जहां सत्य को सत्य समझने
विचारणा नही, असत्य को सत्य मानकर चलने की भ्रमणा हो, वहां भट
के अलावा और क्या मिल सकता है? मिथ्यात्वी आत्मा का वैसा ही
होता है, जैसा कि एक पथ-भ्रष्ट यात्री का। मार्ग भूल जाने पर वह विजन
में भटकता ही रह जाता है। मिथ्यात्वी का त्राण तभी होता है, जब
अपने मिथ्यात्व के आवरण को हटाकर शुद्ध सम्यक्त्व के प्रकाश को ग्र
करता है।

शुद्ध सम्यक्त्व के आधार पर ही आत्मा मे वास्तविक जागृति
प्रारंभ होता है। श्रद्धा सही बनती है, तभी ज्ञान खरे आचरण मे उतरत
और वैसी अवस्था मे जो क्रियाएं की जाती है, वे आध्यात्मिक दृष्टि को वि
सित बनाती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि के विकसित हो जाने के बाद ही आ
रत्नत्रय की साधना करती है तथा अपने स्वरूप को परमोज्ज्वल बनाने की
में आगे बढ़ती है। इसलिये भव्य जन अपनी श्रद्धा को कसोटी पर उतारें
और देखें कि वह कहां तक पहुंची है? स्वयं चिन्तन करें तथा सही स्व
का अवलोकन करें तो स्वयं का ज्ञान स्वयं को अवश्य होगा।

आत्मानुभूति में ढली शास्त्रीय वाणी

विमल जिन दीठा लोयण आज..........

संसार के बीच मे रहती हुई आत्मा अनेक तरह के कर्मों का उपार्जन करती है। ये कर्म मुख्यतः दो तरह के होते हैं—शुभ कर्म और अशुभ कर्म। शुभ कर्मों का फल शुभ होता है तथा अशुभ कर्म अशुभ फल देते हैं। कर्म करते या बांधते समय आत्मा अधिकांशतः विशेष विचार नही करती है। हंस-हंस कर कई अकरणीय कार्य कर डालती है और अशुभ कर्मों का बध कर लेती है। लेकिन जब इन कर्मों के उदय मे आने और उनका फल मिलने का प्रसंग आता है, उस वक्त वह याद करती है कि मैंने कैसे-कैसे कर्म बाधे, जिनके परिणामस्वरूप आज मुझे कष्ट भुगतने पड़ रहे हैं ?

यह विचार भी कब आता है ? जब एक भव्य आत्मा की शास्त्रीय वाणी के प्रति रुचि होती है तथा उसके आधार पर वह अपने जीवन के प्रति चिन्तन करती है। शास्त्रीय वाणी शाश्वत सत्य के रूप मे है क्योंकि यह आत्मानुभूति मे ढली हुई है। महापुरुषो ने अपनी कठिन साधना से आत्मानुभव अर्जित किये तथा तब उनको जो विशिष्ट आत्मानुभूति से उच्चतम ज्ञान प्राप्त हुआ, उसके प्रकाश मे उन्होने जो लोक-कल्याणकारी उपदेश दिये, वे ही शास्त्रो मे सकलित हैं। इस कारण जो भी इस वाणी मे अटल निष्ठा रखता है और उसका अनुसरण करता है, वह कर्म-बध के सम्बन्ध मे भी तथा सामाजिक एव आध्यात्मिक तत्त्वो को उनके यथार्थ रूप मे समझने के सम्बन्ध मे भी पूर्ण विवेक रखता है। यह विवेक उसे अशुभ कर्म-बध से बचाता है, बधे हुए कर्मों

की निर्जरा की प्रेरणा देता है तथा अन्ततोगत्वा मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ाने वाले पुरुषार्थ को जगाता है। आत्मानुभूति मे ढली शास्त्रीय वाणी का इस दृष्टि से और सभी दृष्टियो से अमित महत्त्व है।

तत्त्वों के सूक्ष्म विवेचन को समझें।

वीतराग प्रभु महावीर की वाणी है कि "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" अर्थात् किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है। जैसे भी कर्म बांधे जायेंगे, उनका फल अवश्य मिलेगा। फल का भोग करना ही पड़ेगा। आज फलभोग के समय जो पश्चात्ताप का विचार आता है, वैसा विवेक का विचार अगर कर्म बांधते समय आ जाय तो अशुभ कर्मों के बंध से ही बचाव हो जाता है। कर्म बांधते समय यदि आत्मा विवेक रख ले कि जो कार्य अभी किये जा रहे हैं, वे क्रूर, कठोर और पापकारी हैं, तो वह उन कार्यों से इच्छापूर्वक विलग हो जायगी। पानी आने के पहले पाल बांधी जावे—तब ही उसका भावी लाभ मिल सकता है। तब कर्मों से बचने की भी वृत्ति बनती है। महापाप की स्थिति टाली जावे और अल्प पाप में भी लाचारीवश होने से पश्चात्ताप की भावना रहे तो प्रगाढ़ कर्मों का बंध नहीं हो।

जहां पाप वृत्तियों का और उनके कार्यान्वयन का प्रसंग बनता है, वहां वह विचित्र प्रकार से दुनिया के सामने आता है। इस सारे कर्म सिद्धान्त का विवेचन, धर्म की व्याख्या, सुदेव, सुगुरु व सुधर्म की समीक्षा, साधु जीवन की पवित्रता का विश्लेषण आदि आध्यात्मिक विषयों का प्रतिपादन जितनी यथार्थ एव सूक्ष्म रीति से वीतराग वाणी में हुआ है, वैसा अन्यत्र कही नही है। आत्म-विकास की पूर्णता के साथ जैसी अनुभूति उन्होने की, वैसी ही वाणी का उन्होंने भव्य जनो के आत्मकल्याण के लिये उद्घोष किया। जो कुछ भी आगम वाणी मे तत्त्व का विवेचन है, उस विवेचन को एक जिज्ञासु देख जाय और उस पर गहरा चिन्तन करे तो उसे वीतरागों की शास्त्रीय वाणी का अमित महत्त्व अवश्य ही पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायगा।

ऐसी दिव्य वाणी का संयोग भाग्यशाली पुरुषों को ही मिलता है। वीतराग वाणी के श्रवण करने का अभ्यास जिन्होने कुल—परम्परा से पाया है, उन्हें अपने आपको सौभाग्यशाली समझना चाहिये। यह उनके पुण्य की प्रभा है। बहुतेरे मनुष्य इस ससार मे जीवन यापन करते हैं। वे शरीर की दृष्टि से मनुष्य हैं, लेकिन अपने जीवन की दृष्टि से लगभग पशु के समकक्ष हैं। जंगल

में रहने वाले आदिवासियों से आप पूछें तो वे आत्मा-परमात्मा के बारे में कुछ भी नही बता सकेंगे। वे इन शब्दो से भी परिचित नही हैं। जीवन कैसा है और कैसा होना चाहिए—यह भी वे नही समझते हैं। वे पशु की तरह उदर-पूर्ति के लिये प्रयत्न करते है और उसी चक्कर मे अपनी सारी जिन्दगी खत्म कर देते हैं।

इस संसार मे जो भी प्राणी वीतरागों के मुख से उद्भूत तत्वों के सूक्ष्म विवेचन को यथासाध्य समझ कर अपने जीवन को आध्यात्मिक दिशा मे मोड़ने का प्रयत्न करता है, वह अपनी सही निष्ठा और कठिन पुरुषार्थ के साथ अवश्य ही आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है।

आत्मदशाओं को जानें।

ऐसे मनुष्यों के लिये तो क्या कहे, जो घोर अज्ञान दशा मे रहते हैं, लेकिन जिन्हे आर्य देश, उत्तम कुल का अवस्थान, शिक्षा एव सभ्यता का सयोग मिला है और जिन्हे इस वीतराग वाणी का भी सम्पर्क मिला है, वे भी यदि शास्त्रीय वाणी को समझने और हृदयगम करने की चेष्टा नही करें तो वह एक खेदजनक स्थिति है। इस शास्त्रीय वाणी को समझें, तभी पता चल सकता है कि वर्तमान आत्मदशा क्या है तथा आत्मदशाओ मे क्या-क्या परिवर्तन आ सकते हैं या लाये जा सकते हैं ?

आज अधिकांशत: संस्कारित कहलाने वाले परिवारो के जीवन की ऐसी दशा है कि उनको आध्यात्मिकता का कोई ज्ञान, भान या ध्यान ही नही है। स्कूलो मे पढने की दृष्टि से अन्य विषयो या विज्ञान की बातें जान लेते हैं—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बातो का ज्ञान कर लेते है एव इसी बात पर वे अपने आपको बहुत बड़ा विद्वान् मान लेते हैं, लेकिन इस तथ्य और सत्य से दूर ही रह जाते हैं कि इस आत्मा का स्वरूप कैसा है और उसे पूर्ण पवित्र कैसे बना सकते हैं ? विज्ञान का बहुत ज्ञान हो जाय और जीवनचर्या तथा आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो तो उन्ही वैज्ञानिक साधनो से क्रूर और कठोर कार्य कर लिये जाते हैं। यह विज्ञान का ही विकास है कि साधारण बम से लेकर हाइड्रोजन और अणु बम तक बनाये जाते हैं, जिनके जरिये लाखों लोगो का एक साथ विनाश हो सकता है। ऐसी गति मनुष्य की आत्मदशाओं के पतन से ही संभव होती है।

मनुष्य के जीवन की कैसी दशा बनती है कि उसे अपने द्वारा किये

बुद्धि वाला न भलीभांति समझ सकता है और न सम्यक् प्रकार से इनकी व्याख्या कर सकता है ।

इसलिये शास्त्रकारों ने बहुतेरे संकेत दिये हैं । एक स्थान पर कहा गया है कि जो शास्त्रों के मूल शब्द हैं, उनके अर्थ का उच्चारण किया जा सकता है, लेकिन उनके भावपूर्ण तात्पर्य को समझना तथा समझ करके वीतराग देवो के सिद्धान्त के अनुरूप उनकी व्याख्या करना यह एक गरिमापूर्ण कार्य है। सिद्धान्त के शब्दो को सीख कर अपनी पकड़ी हुई बात की पुष्टि करना, सिद्धान्तो का गलत प्रयोग करना, शब्द कुछ हैं एवं अर्थ कुछ और बताना, शास्त्रीय वाणी की आड़ में अपनी मनघड़न्त बातों का प्रचार करना—यह सब उत्सूत्र-भाषण है । शास्त्रीय वाणी में न नई पंक्तियां जुड़नी चाहिये और न कोई पंक्तियां छोड़नी चाहिये । इसमें न संसार के विषयों के सेवन का निर्देश है और न विकारपूर्ण कार्यों के करने का उपदेश। लेकिन जो इनके अर्थ को उल्टा करके बताता है, वह उत्सूत्र भाषण करता है । इस उत्सूत्र भाषण जैसा महापाप अन्य कोई नही है ।

आप सोचेंगे कि यह महापाप क्यों हो जाता है ? यह महापाप इसलिये हो जाता है कि वीतराग देव जिस रागद्वेष रहित रूप से अपनी वाणी और उसका अर्थ फरमाते हैं, गणधर उनके अभिप्राय को जिस यथावत् रूप में ग्रहण करते हैं तथा नय निक्षेप के प्रमाणों के साथ जिस स्पष्टता से उसकी व्याख्या की जाती है, उस श्रेष्ठ ज्ञान को कोई अपनी काली बुद्धि से कलंकित करे या विकृति के साथ प्रस्तुत करे तो वह छोटा पाप कैसे होगा ? ऐसी शास्त्रीय वाणी सारे संसार की शान्ति की केन्द्र बिन्दु है । ऐसे भौतिक युग में महान् अशान्ति के समय में जब अन्य कोई समर्थ संबल नहीं है, तब यह शास्त्रीय वाणी ही तो शान्ति का प्रधान संबल है और उसको विकृत बनाने की धृष्टता महापाप नही तो और क्या होगा ?

जहां विज्ञान की पहुंच नहीं, वहां शास्त्र की पहुंच

शास्त्रों मे जिन बातों का वर्णन है, वहां तक अभी भी विज्ञान या वैज्ञानिक नही पहुंचा है । सच तो यह है कि शास्त्रों की ठेठ तक की पहुंच है। जो कुछ ज्ञानियों ने अपने सर्वोच्च एवं अनन्त ज्ञान में देखा, उसी का तो उल्लेख शास्त्रों मे है । इसी कारण यहां तक कहा गया है कि शास्त्र के अक्षरों की मात्राओं मे भी जो उलटफेर करता है, वह भी संसार की योनियों मे भटकता है । आज विज्ञान का अध्ययन करने वाले छात्र कभी सोच लेते हैं कि

वैज्ञानिक तो अपने ज्ञान का प्रमाण देता है लेकिन शास्त्रों की बातों के प्रमाण कहां हैं ? उनकी दृष्टि मे विज्ञान प्रामाणिक होता है । लेकिन सुज्ञ विचक्षण पुरुष सोचते हैं कि विज्ञान शांति का प्रमाण नहीं है । प्रयोगशाला का प्रमाण तो स्थूल होता है, लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से उद्भूत वीतराग देवों की वाणी सूक्ष्म प्रमाण-रूप होती है । इस वाणी को जीवन की प्रयोगशाला मे प्रयुक्त करके देखें तो इसकी महान् उपादेयता स्वयमेव प्रमाणित हो जाती है ।

कोई भी प्रमाण दो प्रकार से बनता है । एक तो व्यक्ति स्वयं प्रामाणिक हो और दूसरे उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि दूसरा प्रामाणिक व्यक्ति कर देता हो तो उस बात की प्रामाणिकता कितनी बढ़ जाती है ! एक ईमानदार व्यक्ति होता है और उसकी ईमानदारी की पांच व्यक्ति पुष्टि कर देते हैं तो उस ईमानदारी की साख कैसी जम जाती है ! शास्त्रीय वाणी स्वयं प्रमाणित होती है और आज का विज्ञान भी जब उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि कर रहा है तथा उससे प्रेरणा लेकर नये-नये अनुसंधान कर रहा है तो क्या इससे शास्त्रीय वाणी की प्रतिष्ठा पुष्ट नहीं हो रही है ? उदयपुर के डा.सिंघी जो प्रमुख वैज्ञानिक होकर अब अमेरिका के नागरिक हो गये हैं, जैन-कुल मे संस्कारित हुए तथा कई बार स्व. आचार्य श्री की सेवा में आये व सन्तो के सम्पर्क मे आते रहते हैं । वे बताया करते हैं कि आज विज्ञान शास्त्रीय वाणी के अनुसार बारीक खोजों की तरफ आगे बढ़ रहा है । शास्त्रो मे बताया है कि पर-माणु इतना गतिमान होता है, जिसे दो खडो में विभक्त करने की कल्पना नही कर सकते हैं और वह समय मात्र में लोक जितनी दूरी को पार कर सकता है । डा. सिंघी ने बताया कि अभी विज्ञान शास्त्रीय वाणी से बहुत पीछे है लेकिन वह अब उसी दिशा मे प्रगति कर रहा है । स्व. आचार्य श्री के दर्शन करने वे कानोड भी पहुंचे थे और देवगढ भी पहुंचे थे । देवगढ मे उन्होने कहा कि मैं अमरीकी नागरिक बन गया हूं । अमरीका मे धन ऐश्वर्य बहुत है पर शांति नही है । तब मैंने भी उनको शास्त्रीय वाणी में शान्ति खोजने की सलाह दी थी । मैंने उनसे पूछा था कि किसी भी वस्तु को सूक्ष्मदर्शक यत्र से देखते हैं तो उसमे जतु जैसा क्या दिखाई देता है ? उन्होंने बताया कि ये परमाणु होते हैं और उनकी गति मे हलन-चलन दीखता है । शास्त्रों की दृष्टि से भी ऐसी गति परमाणु की होती है कि २, ३, या ५ परमाणु मिलते हैं तो उनमे गति होती है । डाक्टर सा. ने कहा—शास्त्रो की बात ठीक है । इतने समय तक विज्ञान सोचता था कि जीवधारी ही गति करता है लेकिन अब विज्ञान मानने

लग गया है कि निर्जीव पदार्थ भी गति करते हैं। उनकी खोज इस तरफ में आगे बढ़ रही है।

आध्यात्मिक अनुभूति के परमाणु सर्वश्रेष्ठ—

शास्त्रकारों के पास प्रयोगशाला नहीं थी, लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्म थी। ध्यान रखिये कि प्रयोगशाला के प्रमाण से भी आध्यात्मिक अनुभूति का प्रमाण ऊंचा होता है। ऐसी बहुतेरी बातें हैं कि प्रयोगशाला वालों को वैसी अनुभूति तक पहुंचने में कई युग लग जायेंगे। अभी मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि कई भाई-बहिन केवल विज्ञान को ही प्रामाणिक मानते हैं तो उनको समझ लेना चाहिये कि विज्ञान स्वयं अपनी प्रामाणिकता की पुष्टि शास्त्रीय वाणी से कर रहा है।

आपको मालूम पड़ता होगा कि एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ डाला जाता है तो प्रतिक्रिया के रूप में उसमें जन्तुओं जैसी हलचल मालूम होती है। इससे पुष्टि मिलती है कि अपने ढंग पर निर्जीव पदार्थों में भी गति होती है। शास्त्रों में जो परमाणु के स्वरूप का कथन है, उसकी पुष्टि विज्ञान के जरिये हो रही है। ऐसी एक चीज नहीं, अनेक चीजें हो रही हैं। एक चीज उदाहरण के तौर पर बता रहा हूं। समुद्र में पानी कैसा है—इसका पता आज के वैज्ञानिक लगा लेते हैं। समुद्र का पानी खारा है या मीठा है—इसकी प्रामाणिकता को कैसे जानेंगे? एक चम्मच भर पानी पीकर उसको बखूबी जान सकते हैं। वैसे ही वीतराग देवों की शास्त्रीय वाणी कैसी प्रामाणिक है—यह इस वाणी का अध्ययन, मनन और चिन्तन करके जानिये।

वनस्पति में जीव हैं—पृथ्वी में जीव हैं—ये बातें शास्त्रों में बताई गई थीं, जिन्हें अब वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दी हैं। वैज्ञानिक लोग घूम फिर कर शास्त्रों की तरफ आ रहे हैं और शास्त्रों की प्रामाणिकता को आज वे ही सबसे अधिक सिद्ध कर रहे हैं।

मैं आपसे बताऊं कि शास्त्रों मे ऐसी-ऐसी बातों का भी वर्णन है, जिन्हें सुनकर आप आश्चर्य-चकित हो जायें। अभी दुनिया उन चीजों को पा नहीं सकी। आज मैं भगवती सूत्र का कुछ अंश पढकर सुनाना चाहता था जिससे पता चलता कि उत्कृष्ट प्रामाणिक स्थिति कैसी होती है किन्तु समय अधिक हो गया है। आध्यात्मिक पाठशाला मे सभी तरह के छात्रों की गति है। सन्तुष्टि होगी तभी जिज्ञासा बढ़ेगी और जिज्ञासा बढ़ेगी तभी

स्वयं जानने की चेष्टा करेंगे कि प्रयोगशाला के प्रमाणों से भी अधिक उच्चता आध्यात्मिक अनुभूतिजन्य प्रमाणों मे किस रूप में होती है।

शास्त्रीय वाणी में एकनिष्ठा से दिव्य जीवन की प्राप्ति

देव, गुरु, धर्म के प्रति जो सुदृढ़ निष्ठा बनती है, वही एक भव्य जन को या सम्यक्‌दृष्टि को शास्त्रीय वाणी के प्रति एकनिष्ठ बनाती है। शास्त्रीय वाणी में जब एकनिष्ठा बन जाती है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की सम्यक् आराधना करते हुए उससे आत्मा को दिव्य जीवन की प्राप्ति होती है।



शास्त्रीय वाणी की वैज्ञानिक उत्कृष्टता

विमल चित्त वीठा लोयण आव……

मनुष्य के लिये सबसे बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह अपने पूर्व-जीवन की संशुद्धि किस प्रकार करे ? इस मानव-तन में रहती हुई आत्मा यदि अपने स्वरूप को इस जीवन में भी शुद्ध नहीं बना लेती है तथा परम पद को वरण करने का प्रयास नहीं करती है तो उसके लिये मानव तन की उपलब्धि होना निरर्थक हो जायगा। कितना महत्त्व से भरा हुआ है यह जीवन ! इस जीवन का महत्त्व तब और बढ़ जाता है, जब सुन्दर वातावरण, सन्त समागम का प्रसंग, वीतरागदेव की पवित्रवाणी के श्रवण आदि का शुभ संयोग भी इसमे प्राप्त हो गया हो। ऐसे समय को जीवन की पवित्रता के लिये साध लेना विवेकशील मनुष्य का विशेष कर्त्तव्य हो जाता है।

तत्त्व और अतत्त्व की यथार्थ परीक्षा कैसे ?

वीतराग देव की पवित्र शास्त्रीय वाणी के सम्बन्ध में जहां चिन्तन के क्षण चलते हैं, उसमें अवगाहन करने का जहां प्रसंग आता है, वहां इस वाणी का धारक हंस-चंचु याने हंस की चोंच के समान हो जाता है, दूध-पानी की तरह तत्त्व और अतत्त्व की सम्यक् परीक्षा कर लेता है—सत्य के सार को समझ लेता है। हंस-चोंच के समान ही उसके मन की कुशल गति तत्त्व और अतत्त्व का विश्लेषण करने में तथा तत्त्व को अलग छांट लेने में सक्षम बन जाती है। यही सक्षमता वीतराग वाणी को आत्मसात् कर लेने के लिये उसके आत्मिक धरातल को सुयोग्य और पुष्ट बना देती है। तब वह वीतराग देव की शास्त्रीय वाणी के मर्म को हृदयंगम कर लेता है।

परीक्षा और विश्लेषण करने के समय में विवेक-शक्ति जागृत हो जाती है। तब अच्छी और बुरी दोनों तरह की बातें विख्यातित हो जाती हैं। बुरी बातों का जहां तक सम्बन्ध है, वहां बुरी दृष्टि है, पाप है। पाप की परिभाषा तो प्रायः करके मानव समझता है, किन्तु स्वल्प पाप से भी आत्मा किस रूप में मलिन बन सकती है—इसका सूक्ष्म विश्लेषण भी मानव अपनी बुद्धि से ही करता है। मनुष्य सामान्य होता है लेकिन वही अपनी समुचित साधना करके दिव्य विशिष्टता भी प्राप्त करता है। जिन पुरुषों ने इस मानव शरीर में रहते हुए दिव्य शक्ति का वरण किया, वे दिव्य पुरुष वीतरागता को प्राप्त करके लोकोपकारी बन गये। उन्ही की पवित्र और हितकर वाणी समग्र प्राणियों के कल्याण के लिये प्रस्फुटित हुई। वही वाणी आज शास्त्रीय वाणी या आगम वाणी का रूप लेकर भव्य जनों के मन को आह्लादित बना रही है।

इस आगम वाणी में तत्त्वों का विवेचन भी है तो प्रक्रियाओं का उल्लेख भी है। इन्हीं तत्त्वों मे पाप तत्त्व का विश्लेषण भी किया गया है। यह पाप महापाप के रूप मे भी होता है तो अल्प और स्वल्प रूप मे भी होता है। इन्ही में पाप करने वाली आत्माओं की विभिन्न दशाओं का भी चित्रण किया गया है। एक अविकसित मन वाली आत्मा जो पशु-पक्षी तथा मनरहित कीड़ों-मकोड़ों के शरीरों मे होती है, उससे भी अल्प-विकसित आत्मा होती है पृथ्वी, जल, आग, वायु, वनस्पति में। विकसित मन वाली आत्मा बड़े प्राणियों में होती है लेकिन यही आत्मा मनुष्य शरीर मे रहती हुई सम्पूर्ण एवं सर्वोच्च विकास को उपलब्ध कर सकती है। विभिन्न जीवात्माओ का वर्णन करते हुए इस आगमवाणी मे यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी जीवात्मा के प्राणों का उपमर्दन करने से आत्मा की मलिनता बढती है तथा अशुभ कर्मों का बंधन होता है। पाप करने वाली आत्मा के स्वरूप तथा उसकी ज्ञानशक्ति मे भी बडा अन्तर रहता है। निगोद में रहने वाली आत्मा एक तरह से बेहोश सरीखी होती है। वैसी ही सूक्ष्म एकेन्द्रिय प्राणियो मे मूर्छा होती है। वहां द्रव्य मन नही है, भाव मन है। जीवन निर्वाह की क्षमता उनमे भी होती है, लेकिन एक दृष्टि से यंत्रवत् होती है।

इससे आगे बढ़ने पर जिन आत्माओं को विशेष अवकाश मिला—उनमे भी एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक द्रव्य मन की स्थिति प्राप्त नही होती

है। लेकिन द्रव्य मन की स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय, मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव में प्राप्त होती है। ये भूतकाल की कुछ बातें याद रख सकते हैं और भूतकाल के विषयो को भविष्य से जोड़ सकते हैं। ऐसी जिनकी चिन्तन की शक्ति होती है वे संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी कहलाते हैं।

यह चिन्तन शक्ति पशु–पक्षियों में भी होती है। उदाहरण के तौर पर कुत्ते को ले लीजिये। जिस कुत्ते के किसी व्यक्ति ने एक दिन डंडा मार दिया तो दूसरे दिन वह उसको देखते ही दूर भाग जायगा क्योंकि पहले दिन की स्थिति उसकी स्मृति मे होती है। उस पहले की बात को याद करते ही उसको भविष्य की कल्पना आ जाती है कि जैसे पहले इसने डंडा मारा, वैसे वह आज भी डंडा मारेगा। ऐसी सोचने की ताकत जैसी कुत्ते मे होती है, वैसी ही गाय, भैंस, हाथी–घोड़ा, मयूर, तोता, चिड़िया आदि पशु–पक्षियों में पाई जाती है।

इस प्रकार शास्त्रीय वाणी में आत्म-तत्त्व का व्यापक एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, जिससे आत्मस्वरूप की विभिन्न दशाओं का ज्ञान हो सके तथा अशुभ दशाओ मे से आत्मा को निकाल कर शुभ दशाओं मे उसे प्रगतिशील बनाई जा सके।

कर्म–बन्धन में मन का योगदान—

कर्मों के बंधन में मन का योगदान प्रमुख होता है, बल्कि यों कहे कि मन ही उस सारे बंधन का कारण होता है तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कहा भी है—मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः। चाहे शुभ हो अथवा अशुभ—जब मन के द्वारा विचारपूर्वक कार्य किया जाता है तो उसका प्रभाव गहरा होता है। पशुओं से भी अधिक द्रव्य मन की उन्नत शक्ति इस मनुष्य जीवन में प्राप्त होती है। मनुष्य के अन्दर व्याप्त मन है। वह मन जितना संस्कारित होगा, उसकी गति शुभ कार्यों की ओर रहेगी, लेकिन असंस्कारित एवं विकृत मन ऐसे घोर अशुभ कार्यों मे मनुष्य को प्रवृत्ति करा देता है, जिनके कारण उसको निकाचित पाप कर्मों का बंध हो जाता है।

मन जहां मनुष्य को मनस्वी बना सकता है, वहां वह उसको चिन्ताग्रस्त भी बनाता है। व्यक्ति जितना अधिक चिन्तित होता है, उसके मस्तिष्क मे उतनी ही गहरी पाप वृत्ति आती है। उस समय मे वह वृत्ति कार्यकारी प्रवृत्ति मे न भी उतरे, तब भी वैचारिक दृष्टि से पाप–बंधन तो हो ही जाता

है, जैसा कि शास्त्रकार कहते है "पदुट्ठ–चित्तो यो चिणाइ कम्मं" उत्त० १३।१६ इस प्रकार पाप वृत्तियो का फैलाव सभी प्राणियों तक फैला हुआ है, लेकिन कर्म बंध का कारण मन के साथ गहरा होता जाता है । इस मानसिक अवस्था का विज्ञान मनुष्य तो अपने ज्ञान की सीमा मे कर सकता है और करता है, लेकिन जिसके मन की स्थिति कमजोर होती है, उसका ज्ञान भी अल्प होता है।

जहां पाप की स्थिति है, वहां पुण्य की स्थिति भी होती है, दोनों सहचर हैं । पाप वृत्ति से अशुभ कर्मों का बंध होता है तो पुण्य कर्म का बंध शुभ कार्यों से होता है । यह दोनो प्रकार की प्रक्रिया मन की गति एवं शक्ति के अनुसार सभी जीवात्माओं मे होती है, तभी एकेन्द्रिय से आत्मा पचेन्द्रिय तक के और ऊपर के वर्गों में पहुंचती है । इसका सत्य और सूक्ष्म विश्लेषण जैसा वीतराग देवो ने किया है, वैसा दूसरों से नही बन पड़ा है, क्योंकि उनकी बुद्धि का कार्य—उनका चिन्तन मनुष्य जीवन की सीमा तक ही रहा । मनुष्य की सीमा से परे पशु–जगत् एवं सूक्ष्म प्राणी जगत् में रहने वाली आत्माओं का चिंतन तथा स्वरूप–दर्शन वे ही-पुरुष कर सके, जिनकी उत्तम ज्ञानवती शक्ति वीतरागता के सर्वोत्कृष्ट स्तर तक पहुंच गई । उन पशु–पक्षियों और छोटे–छोटे प्राणियों मे भी कितना ज्ञान और अनुभव है—इसकी अनुभूति वीतराग देवो ने की ।

जिस समय में सर्वज्ञदेव इस क्षेत्र में विचरण करते थे, उस समय में मानव–जीवन का इतना विकास नही था और न ही उसकी चिन्तन–क्षमता आज जितनी थी । आज मनुष्य की चिन्तन शक्ति बढ़ी है तो वह अपने बारे मे भी सोचता है तथा संसार के अन्य प्राणियों पशु–पक्षियो की गतिविधियो के बारे मे भी सोचता है । मनुष्य ने इससे जानकारी ली है कि कई पशु–पक्षियो का प्राकृतिक विज्ञान इतना सुनिश्चित होता है कि उतना सुनिश्चित स्वय मनुष्य का वैज्ञानिक प्रयोग भी नही होता है । उत्तरी ध्रुव के कई पक्षी ऐसे हैं, जो यथासमय आगमन प्रत्यागमन करते हैं । चीटियो तक की सामूहिक स्थिति बड़ी व्यवस्थित होती है ।

यह जो प्रकृति का विज्ञान है तथा भौतिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य का जो अर्जित ज्ञान है, उसके साथ वीतराग देवों का आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञान नही जुड़ता है तो मनुष्य का मन उद्दंड बना रहता है तथा महा–पाप के कार्यो मे जुटा रहता है । अध्यात्म से संलग्न होकर ही मन मुमता मे प्रवेश करता है ।

उत्सूत्र भाषण महापाप—

शास्त्रों में जहां वैज्ञानिक तथ्यों का वर्णन आया है, वहां उस व्यापक वर्णन किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि अगर आज विज्ञान शास्त्रीय वाणी को आधार बनाकर प्रगति करे तो कई अज्ञात तथ्यों रहस्योद्घाटन हो सकता है ।

आवश्यकता इस बात की है कि शास्त्रीय वाणी में पूर्ण निष्ठा और शास्त्रों का यथावत् अर्थ किया जाय । इसलिये कवि ने उत्सूत्र भाषण महापाप की संज्ञा दी है । सुदेव और सुगुरु के प्रति श्रद्धा हो और सुधर्म निष्ठा । सुधर्म में ही शास्त्रों का समावेश होता है । शास्त्रों का यह विश्ले अनेकान्त विधि से किया जाना चाहिये । इस पाठ से प्रत्याख्यान किया जा है तो यह एक दृष्टि से उत्सूत्र-भाषण की श्रेणी में आ सकता है ।

इसलिये एक सम्यक् दृष्टि साधक के लिये यह आवश्यकता है कि वह शास्त्रीय पाठ को ठीक तरह से समझ करके उसके अनुसार ही आचरण करे । जो ऐसा नहीं करते हैं और शास्त्रीय पाठ को तोड़-मरोड़कर मनचाहा अर्थ निकालने की चेष्टा करते हैं, वे भयंकर पाप के भागी होते हैं । इसलिये शास्त्रों में पूर्ण निष्ठा के साथ उनका यथावत् सम्यक् अर्थ-विन्यास भी उतना ही आवश्यक है । जो अनेकान्त विधि से अर्थ-विन्यास नहीं करते हैं, वे अपने अहं का पोषण करने के लिये अर्थ का अनर्थ करते हैं । ऐसा व्यक्ति दुनिया की दृष्टि में भले ही महान् कहलाये, लेकिन सम्यक् ज्ञान एवं श्रद्धान के अभाव में वह आत्मशुद्धि के कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकेगा । अतः भगवान् के बताये हुए मार्ग के प्रति पूर्ण निष्ठा जब मन में होगी, तभी उसके अनुरूप की गई साधना आत्मशुद्धि का सशक्त कारण बन सकेगी ।



आत्मा का ऊपर उठना है, वही धर्म है

विमल जिन दीठा लोयण आज............

इस साध्य के लिये कि मानव-जीवन का भव्य विकास हो, साधन रूप में धर्म की आवश्यकता रहती है। धर्म यही है कि आत्मा अपने भाव मे अवस्थित हो। स्वभाव प्रकट हो जाय—वही धर्म की प्राप्ति है। आत्मा इस स्वभाव का अवलम्बन लेकर आगे बढ़े तो चरम सीमा का विकास भी प्राप्त कर सकती है। आत्मा का जो ऊपर उठना है याने कि जो अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करते जाना है, वही धम की आराधना है।

अपना भाव स्वभाव, पराया भाव विभाव

आत्मा जब स्व में स्थित होती है याने कि स्वस्थ होती है, तब वह स्वभाव को पकड़ती है। जब वह ससार के जड़ पदार्थों मे व्यामोहित रहती है तो वह स्वभाव से दूर रहती है। उस समय उसका अवस्थान पराये भाव में होता है। इसको आत्मा की विभंगिक वृत्ति कह सकते हैं अर्थात् वह स्थिति स्वभाव से भिन्न परभाव की वृत्ति होती है। इस परभाव की वृत्ति एव स्थिति को विभाव कहते हैं। स्वभाव से जो विपरीत होता है, वह विभाव होता है।

आत्मा की विभाव वृत्ति स्थायी नहीं होती है। यह कर्म-जनित होती है। यह आत्मा मूल मे अपने स्वभाव को लिये हुए होती है किन्तु कर्मों का प्रभाव उसको अपने स्वभाव से संज्ञाहीन बनाता जाता है। तब उन कर्मों के कारण जड़ पदार्थों का भाव उसकी वृत्ति एवं प्रवृत्तियों में छा जाता है। वैसी अवस्था

उसकी विभाव की अवस्था हो जाती है। यह अवस्था आत्मा की अस्वास्थ्य-
स्था होती है। आत्मा तब स्वस्थ न होकर परस्थ होती है। इस पराधीनता
को त्यागना और स्वाधीनता को अंगीकार करना ही महान् धार्मिक पुरुषार्थ
कहा जाता है।

स्वभाव और विभाव की स्थितियों को इस रूपक के माध्यम से
समझने का यत्न करें। पानी आकाश से जब जमीन पर आता है और जिस
वक्त जमीन को छूता है, तब तक उस पानी के स्वभाव में स्वच्छता, निर्मलता
तथा प्यास बुझाने की पूर्ण शक्ति मौजूद रहती है। लेकिन ज्यों ही पानी की
बरसती हुई बूंदें जमीन को छूती हैं तो जैसी जमीन की हालत होती है, वैसी
हालत मे बूंदें बदल जाती हैं याने कि बूंदें अपने स्वभाव को दबा कर जमीन
के स्वभाव में ढल जाती हैं जो स्वभाव बूंदों के लिये अपना नहीं, पराया होता
है। जमीन मटमैली मिट्टी वाली है तो बूंदें उसमें मिलकर कीचड़ बन
जाती हैं और अगर वे बूंदें जमीन पर बह रहे किसी गटर या गन्दे नाले में
गिरती हैं तो वे बूंदें भी उसके अनुरूप मलिन एवं दुर्गंधपूर्ण बन जाती हैं।
वे ही बूंदें अगर समुद्र में बरस जाती हैं तो वे अपनी मधुरता को खो
समुद्र के पानी की तरह खारी और पीने के अयोग्य बन जाती हैं। परिणाम-
स्वरूप वह शुद्ध जल अशुद्ध बन जाता है तथा अपनी स्वाभाविक शक्तियों
दबा बैठता है। स्वभाव दबता है तो परभाव उभर आता है। जो पर-भाव
है, वही अशुद्धि का मूल कारण होता है। आकाश से गिर रहा था, तब
वह पानी कहला रहा था और वही जब गटर में बहने लगा, तब भी पानी
कहलाया लेकिन दोनों के स्वरूप में कितना अन्तर आ गया? यह एक स्थूल
रूपक है।

स्वभाव और विभाव-जन्य आत्मस्वरूप की स्थितियां :

इस रूपक के माध्यम से आत्मा की मूल शक्तियों तथा स्वरूप में आने
वाली परिवर्तनात्मक स्थितियों को पहिचानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
यह आत्मा अनादि काल से कर्म वर्गणाओं के साथ-साथ शरीर में सम्बन्धित
रही हुई है। शरीर भी एक प्रकार से मिट्टी का स्वरूप ही है। मिट्टी का
एक संशोधित रूप अन्न होता है और अन्न शरीर का आयाम। इसलिए कह
सकते हैं कि शरीर मिट्टी की ही परम्परा से आया है। इस माने में यह मिट्टी
का शरीर भी कहा जा सकता है। लेकिन वर्तमान में यह शरीर सिर्फ मिट्टी
का ढेला नहीं है। मिट्टी का ढेला धूप का स्पर्श पाकर सर्वथा निर्जीव

जाता है, वैसा यह नहीं है। इसमें चैतन्य शक्ति का सहयोग होने से यह सक्रिय है। यह सब प्रकार की चहल–पहल की स्थिति का साधन बना हुआ है। पानी के रूप से कभी कोई व्यक्ति यह सोच ले कि पानी जब आकाश से गिरा, तब शुद्ध था और बाद में वह अशुद्ध हो गया तो क्या यह आत्मा भी पहले शुद्ध थी और बाद में अशुद्ध बन गई ? इस रूपक का यह तात्पर्य नहीं है।

यदि आत्मा एक वक्त एक समय के लिये भी बिल्कुल शुद्ध और पवित्र बन जाती है तो फिर कोई कारण नहीं है कि वह फिर से अशुद्ध बने। यदि एक बार शुद्ध बनी हुई आत्मा भी फिर–फिर अशुद्ध होने लगे तो फिर धर्माराधना का कोई महत्त्व ही नही रह जायगा और न आत्मा की पूर्ण पवित्रता का ही कोई स्वरूप बन पायगा। ऐसी अवस्था मे मोक्ष का ही कोई महत्त्व नहीं रह जायगा।

लेकिन कारण के बिना कोई कार्य नहीं बनता है। जो कुछ भी अशुद्धि इस आत्मा में आती है, वह भावनाओं की मलिनता से और कार्यों की कुत्सितता से आती है। दो ही मार्ग हैं। पहला जब आत्मा जड पदार्थों के मोह की तरफ बढ़ती है तो सभी प्रकार के विकार इस आत्मा को मैलो बनाते रहते हैं। यह आत्मा का अंधकार की ओर, पतन की ओर गमन होता है। यह अधर्म का मार्ग होता है। इसके विरुद्ध जब आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप को समझती है और उसको निखारने व उज्ज्वल बनाने की प्रक्रिया मे लगती है तो वह ऊपर उठने का मार्ग होता है और यह जो ऊपर उठने का मार्ग है, वही प्रकाश का मार्ग है और धर्म का मार्ग है।

आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगामी याने ऊपर उठने का माना गया है। इससे वह अपने ज्योतिर्मय स्वभाव की तरफ आगे बढती है। यह आत्मा की स्वभावजन्य स्थिति होती है तथा अपने निज स्वरूप को भुलाकर जो जड पदार्थों के मोह की तरफ आत्मा का गमन होता है, वह उसकी विभाव–जन्य स्थिति होती है। जब तक यह आत्मा अपने स्वभाव को पूर्णतया प्राप्त नही कर लेती है, तब तक वह अपनी स्वभाव–जन्य स्थितियो तथा विभाव–जन्य स्थितियों के बीच मे गतिशील बनी रहती है। कभी शुभ भावनाओ का प्रवाह चलता है तो वह अपने स्वभाव के निकट जाने लगती है और उस समय मे पूरी सावधानी नही रखती है तथा अशुभ भावनाओ के अंधड़ मे वह जाती है तो विभाव की तरफ दौड़ने लग जाती है। शुभाशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो के दौर मे इस प्रकार आत्मा की गतिशीलता बनी रहती है और वह स्वभाव तथा विभाव की स्थितियो मे चलती रहती है।

जग सूत्र सरीखा धर्म और ऊर्ध्वगामी आत्मा :

संसार की ये विचित्र परिस्थितियां और विविध प्रकार के प्रपंच—ये सब अंधकार से भरी हुई शक्तियां होती हैं। इन अन्धकारपूर्ण शक्तियों के साथ लगी हुई रहने से आत्मा की ऊर्ध्वगामी शक्ति भी अधोमुखी हो रही है और यह अधोगामिता की स्थिति इस आत्मा के साथ अनादिकाल से रही हुई है। लेकिन यदि सत्पुरुषार्थ का बल पूरे वेग से लग जाय और भव्य तरीके से सद्गुरु का संयोग मिल जाय तो इस आत्मा को ऊपर उठने के लिये सोने में सुहागा बन जाय। ऐसी पवित्र वेला और पवित्र घड़ियां इस आत्मा की ऊर्ध्वगामिता की दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं और उन्हीं घड़ियों में वह जग सूत्र सरीखे धर्म का अनुपालन करती हुई अपने स्वभाव की परिपूर्णता को उपलब्ध कर लेती है।

इस जग सूत्र सरीखे धर्म और आत्मा की ऊर्ध्वगामिता के सम्बन्ध को समझ लें। सूत्र के नाम से आप सोचेंगे कि इसका अर्थ होगा, वे कागज के पन्ने जिन पर लिपिबद्ध भाषा में अंकन किया हुआ है याने कि जो कागज पर लिखा हुआ है। लेकिन वह सूत्र कागज के पन्नों पर लिखा जाने वाला नहीं है। कागज के पन्नों पर अक्षर लिखने वाली भी चैतन्य आत्मा ही होती है। लिपि का निर्माण करने वाली भी यही आत्मा है और लिपि का अर्थ निकालने वाली भी यही चैतन्य शक्ति है। मूलतः यदि चिन्तन किया जायगा तो चैतन्य ही ज्ञानमय होता है और वही ज्ञान की संज्ञा पाता है। इसलिये आनन्दघन जी की प्रार्थना में यही अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—

> पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो,
>
> धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरिखो।
>
> सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे,
>
> तेहनूं शुद्ध चारित्र परिखो ॥

ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो जग सूत्र के तुल्य हो। तो यह जग सूत्र जो आया है, वह इस आत्मा की परम शुद्ध वृत्ति का संकेत दे रहा है। जो आत्मा का ऊर्ध्वमुखी प्रकाशयुक्त जीवन है, वह जग सूत्र की स्थिति का जीवन होता है। ऐसे ही ज्योतिर्मय क्षणों में जग सूत्र का आन्तरिक अर्थ भी जगत् के सामने उद्भासित होता है।

जग सूत्र की स्थिति से ही धर्म का प्रकाश फैला

जब तीर्थंकरों ने अपने परम पवित्र आत्मस्वरूप को उसकी शुद्धता के अन्तिम छोर तक प्रकट और प्रकाशित कर दिया, तब उनकी अन्तश्चेतना से जगत के कल्याण हेतु जो वाणी निकली वही धर्म का मूल है। धर्म का प्रकाश इस रूप में जग सूत्र की स्थिति से ही फैला। उसी वाणी के आध्यात्मिक स्वरूप को गणधरों ने लिपिबद्ध कर लिया। वही वाणी उस रूप मे शास्त्रों या सूत्रों मे अंकित है।

जब कभी मनुष्य व्यापार के माध्यम से धन का संचय करता है तो वह उस धन को कहां पर रखता है ? क्या वह उसे बाहर बाड़े मे या चौक मे ही पड़ा रखता है ? वह उसे व्यवस्थित रूप से तिजोरी मे रख देता है। कारण, वह जब भी बाजार मे या बाहर कही जाता है तो वह उस धन की तरफ से निश्चिन्त रहता है। जैसे धन को तिजोरी मे सुरक्षित कर दिया जाता है, वैसे ही वीतराग देवो की वाणी सूत्रो में सुरक्षित कर दी गई। वीतराग वाणी को धन की उपमा देना उचित नहीं है—यह सिर्फ समझाने के लिये है।

शब्द स्वयं ज्ञान नही होते हैं। वह तिजोरी भी स्वयं धन नहीं है। तिजोरी धन को सुरक्षित करने का साधन होती है, उसी तरह ज्ञान को शब्दो मे इसलिये ढाला जाता है कि वह सुरक्षित भी रहे तो सुबोध भी बन सके। अक्षर रचना या शब्द रचना स्वयं अर्थ नही है और जो अर्थ है, वही शास्त्र रूप है। जैसे तिजोरी मे क्या रखा हुआ है—यह देखा जाता है, उसी प्रकार यह देखना चाहिये कि शब्द रूपी तिजोरी में अर्थ रूपी धन कितना और कैसा रखा हुआ है ? सूत्रो के अनुशीलन का यही आशय समझना चाहिये। याद रखिये कि सूत्रो की इस तिजोरी मे उन पवित्र एवं निर्मल आत्माओ की विशिष्ट अनुभूतियां संचित हैं और वे प्रकाशमय वचन भरे हुए हैं, जिनका जब अनुशीलन करेंगे तो आत्मा का अंधकार दूर होने लगेगा। यह सूत्रो के अर्थ के अनुशीलन से होगा। शब्दो के वाचन के साथ उनकी आन्तरिकता मे उतरने से ही धर्म का प्रकाश फैलता है।

धर्म की विभिन्न परिभाषाएं एवं मन्तव्य की शुद्धता

दुनिया मे धर्म की परिभाषाएं बहुतेरी आई हैं। आज तक इतिहास मे लोगों ने एक से दूसरी प्रकार और प्रकारान्तर से धर्म की परिभाषा की है। किसी ने किसी रूप मे धर्म का रूप उपस्थित किया तो किसी ने किसी अन्य रूप मे। इतिहासकारों की दृष्टि से धर्म की नौ सो से ऊपर परिभाषाएं आज

तक हो चुकी हैं। फिर भी विद्वानों को धर्म की परिभाषा से सन्तोष नहीं आया है। यह सन्तोष क्यों नही आया है?

इसका कारण यह है कि धर्म की स्वतन्त्र रूप से परिभाषा करने वाले जो कर्त्ता हैं, वे स्वयं धर्म की मर्मभरी अनुभूति से एक दृष्टि से शून्य रहे हैं। जो व्यक्ति जिस वस्तु से शून्य होता है, वह उस वस्तु के विषय में भला दे क्या सकता है? धर्म की अनुभूति से शून्य व्यक्ति भला धर्म की सही परिभाषा कैसे कर पाएगा? इसलिये कहना होगा कि ये परिभाषाएं अधूरी रही हैं। उन परिभाषाओ में धम शब्द को जग सूत्र की संज्ञा नहीं मिली।

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना मे धर्म को जग सूत्र की सज्ञा दी है। इसमे क्या विशेषता है? विशेषता की स्थिति का आप अनुमान करें कि जिन वीतराग देवो ने धर्म की यथाथ परिभाषा की है, उनके मस्तिष्क मे अक्षर ज्ञान की कलाबाजी नही थी—उनके हृदय मे मन्तव्य की पूर्ण शुद्धता थी। आप अक्षर ज्ञान की कलाबाजी को समझते होगे। ऐसे कलाबाज अपने को विद्वान् मानते हैं, लेकिन उनकी विद्वत्ता हकीकत में कोरी होती है। वे धर्म की परिभाषा करेगे तो वह उस कलाबाजी की सीमा तक ही होगी, उसमे वास्तविकता नही आ सकेगी। भाषा सुन्दर हो गई, लेख सुन्दर लिख दिया तो वे समझने लग जाते है कि यही सब कुछ है। ऐसे व्यक्तियो द्वारा धर्म की परिभाषा एकांगी नही होगी तो और कैसी होगी? वह कला की स्थिति से सुन्दर हो सकती है, लेकिन वह परिभाषा आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति उत्पन्न करने वाली कैसे हो सकती है? इसलिये ऐसी धर्म की परिभाषाएं जग सूत्र की संज्ञा नही पाती है, क्योकि उनमे निहित मन्तव्य अपने शुद्धतम रूप मे नही होता है।

मंतव्य की अशुद्धता धर्म की परिभाषाओं में किस प्रकार समाविष्ट होती है? यदि व्यापार की अति योग्यता रखने वाला कोई विद्वान् धर्म को परिभाषा करता है तो उसमे उसका निहित स्वार्थ आ जाता है और वह आर्थिक समस्याओं का पुट दे देता है। यदि कोई वैज्ञानिक है तो धर्म को विज्ञान के धरातल पर खड़ा करना चाहता है। यदि कोई राष्ट्रीय नेता है तो वह धर्म को अपनी राजनीतिक हलचलो के अनुरूप परिभाषित करता है। इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों से सम्बन्धित लोग जब धर्म की परिभाषा करने लगते हैं तो अपने अपने क्षेत्रो के निहित स्वार्थों को उसमे मिलाने की चेष्टा करते हैं। यही मंतव्य की अशुद्धता होती है।

जो बाहरी प्रभावो से प्रभावित हो, वह धर्म नहीं होता। आत्मा के

भाव से सम्बन्धित धर्म होता है और उसकी स्फुरणा आन्तरिक अनुभूति से
ती है। बाहरी प्रभाव आत्मा को विभाव की तरफ ले जाते है, फिर उनके
रा धर्म की सच्ची परिभाषा कैसे हो सकती है क्योकि वे अपूर्ण और अधा-
क होते हैं। मंतव्य की शुद्धता एवं आन्तरिक अनुभूति के साथ ही धर्म को
स्तविकता से समझा जा सकता है व परिभाषित किया जा सकता है। जिसका
न्तर्मन धर्म से लबालब भरा होगा, वही व्यक्ति दूसरो को धर्म दे सकता है–
र्म बता सकता है। शून्य व्यक्ति क्या बता सकता है ?

नुभूति से रंगा धर्म और धर्म से रंगी अनुभूति

जैसा कि मैंने पहले कहा कि जो आत्मा का स्वभाव है, वही धर्म है।
ात्मा अपने स्वभाव को प्राप्त होती है अपने कर्त्तव्यो के अनुपालन से। इसलिये
र्माराधना का अर्थ होता है कि आत्मा अपनी ऊर्ध्वगामिता के कर्त्तव्यो का पालन
रे। यह पालन आत्मा अपनी आन्तरिक अनुभूति से ही सच्चे रूप मे कर
कती है। अतः धर्म आत्मानुभूति से रगा हुआ ही होना चाहिये और जब
सा होता है तो आत्मानुभूति भी धर्म से रग जाती है। ऐसा ही वीतराग
णीत धर्म है जिससे आत्मा का अणु–अणु धर्ममय हो जाता है।

यह जो वीतराग वाणी है, वह ऐसे ही धर्म की अनुप्रेरक है। इसका
ंभीर अर्थ आत्मा को ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। इस वाणी की जो
ाषा है, वह जन साधारण की भाषा है जिसे प्राकृत या मागधी कहते हैं।
िस रूप मे यह दिव्य वाणी भाषित हुई है, उसमे जो निहित अर्थ है, वह
ात्मानुभूति के रस से भीजा हुआ हैं। वीतराग देवों की यह अनुभूति और
सका प्रकटीकरण किसी वर्ग विशेष के लिये नही हुआ है। वीतराग दशा
न्होने प्राप्त की, उन्होंने अनन्त भूत के जीवन को देखा और अनन्त भविष्य
रूप मे वर्तमान को देखा है। उस सारी अवस्था मे राग, द्वेष, मोह माया;
भ, तृष्णा, काम, क्रोध आदि विकारो से वे सम्पूर्णतया मुक्त थे। इसलिये
वाणी के रूप में उन्होने अपनी अनुभूति से जो कुछ निष्कर्ष निकाले, वे
ं सत्य से युक्त हैं। इनके जो ये सत्यमय अनुभव हैं, वे न सिर्फ मनुष्य जाति
लिये बल्कि सम्पूर्ण प्राणियों के लिये हितकारी हैं। छोटे से छोटे प्राणी के
कल्याण की अनुभूति लेकर ही उनकी वाणी प्रकट हुई है। इसलिये वीत-
ग वाणी जग–सूत्र है। उसमे आत्मा की वीतराग दशा के ही भाव भरे हुए
। उसकी तुलना मे संसार में अन्य कोई वाणी नहीं है। यह समस्त जगत्
'जग सूत्र' रूप आत्मोत्थान की वाणी है।

ऐसा जग सूत्र जिन मानवों को प्राप्त हुआ है, वे परम सौभाग्यशाली हैं। लेकिन आवश्यकता है कि वे इस वाणी के मर्म को अन्त:करणपूर्वक स्व अंगीकार करें तथा अपने जीवन को इस अनुभूतिमय धर्म मे ढालें। किसी साहित्य का मूल्यांकन उसके शाश्वत भावों की दृष्टि से ही किया जा सकता और उस दृष्टि से उस साहित्य की मौलिक भाषा भी उतनी ही प्रभाव होती है। मूल भाषा प्राकृत मे अंकित शास्त्रीय वाणी का महत्त्व भाषा भाव दोनो दृष्टियो से आंका जाना चाहिये। कई भाई कभी कह देते हैं आज प्राकृत का चलन नहीं रहा है, सो सभी पाटियां वगैरह हिन्दी आदि प्र लित भाषाओं मे अनूदित कर दी जानी चाहिये। अनुवाद अनुवाद होता और मूल–मूल होता है तथा जहां अंग्रेजी आदि कठिन भाषाएं भी अपने व्य हारिक उपयोग के लिये सीख ली जाती हैं तो प्राकृत भाषा कौनसी कठिन आत्महित के लिये एक भाषा का सीखना कोई बड़ी बात नही है। मूल गौरव को भुलाया नहीं जाना चाहिये, बल्कि उसे सुरक्षित रखना चाहिये। भाषा भी मूल भावों की माध्यम होती है, इसलिये प्राकृत भाषा के महत्त्व भी सुरक्षित रखना चाहिये। संभव है, आज की भाषा कल प्रचलित न रहे इस प्रकार अनुवाद के अनुवाद करते जायेंगे तो क्या मूल भावो की भी सु हो सकेगी ?

आत्मानुभूति का मूल रस मूल भाषा के साथ लिपटा हुआ होता और मूल का कितना ही श्रेष्ठ अनुवाद क्यो न कर लिया जाय, उस अनु से मूल भावों का पूर्णतया प्रकाशन कभी नहीं हो सकता है। इसी का वीतराग वाणी आज तक मूल भाषा में बनी हुई है। परिस्थितियां बदल रही, लेकिन शास्त्रो का मूल नही बदला। मूल नहीं बदला तो आज तक वी राग धर्म की अनुभूति नहीं बदली। वह आज भी पूर्ण सशक्त है। शास्त्रों मूलपाठ करके जब आप अर्थ का अनुसंधान करते हैं तो वह अनुभूति निर ही होती है।

धर्म जब अनुभूति से रंगा हुआ होता है, तभी आत्मा की जा बनी रहती है और एक जागृत आत्मा अपनी आन्तरिक अनुभूति मे तल्ल होकर ही धर्मानुगामिनी बनी रहती है।

जग सूत्र सरीखा धर्म नहीं और उत्सूत्र सरीखा पाप नहीं

कवि ने प्रार्थना में इसीलिये कहा है कि जग सूत्र याने कि वीतर

प्रणीत धर्म ही महान् धर्म है। इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है। इसके साथ ही कहा कि उत्सूत्र सरीखा पाप भी दूसरा नहीं है याने कि सूत्र का जरा भी भाषा या भाव किसी भी दृष्टि से तोड़-मरोड़ नहीं किया जाना चाहिये। इसके लिये एक उदाहरण देता हूं। ऐसा सूत्र किसी अन्य ने नहीं कहा कि जगत् की सारी आत्माएं यहां तक कि निगोद में रहने वाली आत्माएं भी मेरी अपनी आत्मा के तुल्य है—'सव्व-भूयप्प.....' दश० ४/९। सारे जगत् के प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य समझो—यह बात किसने कही है? ऊपर से नहीं आई है—अपनी अनुभूति से प्रकट हुई है। नकल करने वाले कह देंगे कि सभी आत्माओं का अर्थ है मनुष्यों की आत्माएं और बाकी पशु-पक्षी तो मनुष्यों के खाने के लिये हैं, तो उनके विचार को क्या कहेंगे?

शब्द का प्रयोग करना एक बात है और उसको जीवन में उतारना दूसरी ही बात होती है। जग सूत्र जिस वाणी का मूल है, उस वाणी की मौलिकता को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। ऐसा नहीं करें तो उत्सूत्र का पाप फैलने में देरी नहीं लगेगी। जो किसी भी रूप में शास्त्रीय वाणी का तोड़-मरोड़ करता है, वह बहुत बड़ा पापी है। शास्त्रीय वाणी की सुरक्षा करने वाला धर्म की सुरक्षा करता है और जो धर्म की सुरक्षा करता है, वह भगवान् का महान् कृपापात्र होता है। यह त्रिकाल की बात है।



धर्म और कर्त्तव्य का साम्य तथा भेदरेखा

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं.........

जीवन के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता धर्म की है शरीर निर्वाह के लिये अन्न, जल और वायु इन तीनों तत्त्वों की नितान्त आवश्यकता होती है। इसके समकक्ष या इससे भी अधिक आवश्यकता ज्ञानी जनों की दृष्टि में धर्म की होती है। अन्न के बिना कुछ दिनों के लिये जीवित रहा जा सकता है, जल के अभाव में भी कुछ घंटे बिताये जा सकते हैं और वायु के बिना भी कुछ मिनिट निकाले जा सकते हैं लेकिन जिसको अपने जीवन का वास्तविक विकास करने की दृढ़ अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वह धर्म के बिना एक पल भी नहीं गुजार सकता है। एक पल के लिये भी धर्म से हानि होने पर जीवन का उसका विकास रुक जाता है और एक साधक के लिए एक पल भर भी जीवन का विकास रुक जाना मृत्यु से भी अधिक भयावह होता है।

धर्म और कर्त्तव्य का एक तुलनात्मक विश्लेषण

धर्म की वास्तविक साधना के बिना इस आत्मा के स्वभाव को कायम रखना दुश्वार ही नहीं, असंभव होता है, क्योंकि जो धर्म है, वही आत्मा का स्वभाव होता है। स्वभाव से बेभान बनकर आत्मा का जो भी और जैसा भी जीवन होता है, वह मृत्यु तुल्य होता है।

धर्म शब्द आम जनता में चर्चित और प्रचलित है। धर्म शब्द के

पीछे प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति की खोज है । धर्म की बात करने में गौरव का अनुभव किया जाता है । कैसा भी समाज हो—धर्म की बात करने वाले और उसका आचरण करने वाले उस समाज मे श्रेष्ठ माने जाते हैं । लेकिन धर्म वस्तुतः क्या है, उसके लक्षण कौन-कौन से हैं अथवा उसकी सच्ची व्याख्या क्या है—उसको जानने का सही प्रयास बिरले ही कर पाते हैं । धर्म के सत्य स्वरूप को समझने की चेष्टा इस कारण अत्यावश्यक है ।

कभी कभी धर्म शब्द के समकक्ष कर्त्तव्य शब्द को ले लिया जाता है । धर्म शब्द में और कर्त्तव्य शब्द में कुछ साम्य है तथा समन्वय रूप से धर्म को भी कर्त्तव्य कहा जा सकता है और कर्त्तव्य को भी धर्म मान सकते हैं । लेकिन इन दोनों का जब विशेष विश्लेषण किया जायगा और दोनो के स्वरूप को उनके सही परिप्रेक्ष्य मे समझने का यत्न किया जायगा तो सूर्य के आलोक की तरह धर्म और कर्त्तव्य के बीच में भेद-रेखा भी दिखाई देगी । जहां कर्त्तव्य का प्रसंग है, वहां वह नैतिकता के अन्तर्गत आता है और सभी क्षेत्रो मे कर्त्तव्य की पालना का तकाजा रहता है । सभी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की दृष्टि से सभी लोगों के साथ भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यो की पालना की अनिवार्यता लगी हुई रहती है । कर्त्तव्य का अर्थ इस स्थिति से जितना करने योग्य है, उतना ही किया जाय—उसको धर्म के विशाल एवं व्यापक अर्थ के समकक्ष न बिठा दिया जाय ।

एक व्यक्ति अलग-अलग स्थानों पर तथा अलग-अलग स्थितियों में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है । वह एक परिवार का सदस्य है तो परिवार के प्रति जो कर्त्तव्य निर्धारित हैं या जो उसे समीचीन लगते हैं, उनकी वह पालना करता है । परिवार के सदस्यो द्वारा संयुक्त जिम्मेदारी का निर्वाह करना, सामूहिक रीति से जीवन-यापन करना, एक दूसरे के प्रति हमदर्दी रखना, एक दूसरे के दुःख सुख मे शरीक होना, जो कुछ या जितनी भी वस्तु प्राप्त हो, उसका सबमे सम-वितरण करना—ये सब पारिवारिक कर्त्तव्यो की श्रेणी में आते हैं । इनके सिवाय भी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार नये-नये पारिवारिक कर्त्तव्य भी अर्जित होते रहते हैं । सदस्यो के भी अवस्था परिवर्तन के साथ नये-नये कर्त्तव्य भी निर्मित होते रहते हैं । जैसे एक बालक परिवार मे जन्म लेता है तो उसके प्रति अन्य सदस्यों के कर्त्तव्य होते हैं तो ज्यो-ज्यो वह बड़ा होता जाता है, उसका भी अन्य सदस्यों के प्रति तथा परिवार के प्रति कर्त्तव्य निर्मित होता जाता है । जब वह कुछ बड़ा हो जाता है और अपना अध्ययन प्रारंभ करता है तो उसका एक और पारिवारिक कर्त्तव्य होता

धर्म और कर्त्तव्य का साम्य तथा भेदरेखा

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशु.........

जीवन के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता धर्म की है। शरीर निर्वाह के लिये अन्न, जल और वायु इन तीनों तत्त्वों की नितान्त आवश्यकता होती है। इसके समकक्ष या इससे भी अधिक आवश्यकता ज्ञानी जनों की दृष्टि में धर्म की होती है। अन्न के बिना कुछ दिनों के लिये जीवित रह जा सकता है, जल के अभाव मे भी कुछ घंटे बिताये जा सकते हैं और वायु के बिना भी कुछ मिनिट निकाले जा सकते हैं लेकिन जिसको अपने जीवन का वास्तविक विकास करने की दृढ़ अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वह धर्म के बिना एक पल भी नहीं गुजार सकता है। एक पल के लिये भी धर्म से हीन होने पर जीवन का उसका विकास रुक जाता है और एक साधक के लिये एक पल भर भी जीवन का विकास रुक जाना मृत्यु से भी अधिक भयावह होता है।

धर्म और कर्त्तव्य का एक तुलनात्मक विश्लेषण

धर्म की वास्तविक साधना के बिना इस आत्मा के स्वभाव को कायम रखना दुश्वार ही नहीं, असंभव होता है, क्योंकि जो धर्म है, वही आत्मा का स्वभाव होता है। स्वभाव से बेभान बनकर आत्मा का जो भी और जैसा भी जीवन होता है, वह मृत्यु तुल्य होता है।

धर्म शब्द आम जनता में चर्चित और प्रचलित है। धर्म शब्द

पीछे प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति की खोज है । धर्म की बात करने में गौरव का अनुभव किया जाता है । कैसा भी समाज हो—धर्म की बात करने वाले और उसका आचरण करने वाले उस समाज में श्रेष्ठ माने जाते हैं । लेकिन धर्म वस्तुतः क्या है, उसके लक्षण कौन–कौन से हैं अथवा उसकी सच्ची व्याख्या क्या है—उसको जानने का सही प्रयास बिरले ही कर पाते हैं । धर्म के सत्य स्वरूप को समझने की चेष्टा इस कारण अत्यावश्यक है ।

कभी कभी धर्म शब्द के समकक्ष कर्त्तव्य शब्द को ले लिया जाता है । धर्म शब्द में और कर्त्तव्य शब्द मे कुछ साम्य है तथा समन्वय रूप से धर्म को भी कर्त्तव्य कहा जा सकता है और कर्त्तव्य को भी धर्म मान सकते हैं । लेकिन इन दोनो का जब विशेष विश्लेषण किया जायगा और दोनो के स्वरूप को उनके सही परिप्रेक्ष्य मे समझने का यत्न किया जायगा तो सूर्य के आलोक की तरह धर्म और कर्त्तव्य के बीच में भेद–रेखा भी दिखाई देगी । जहां कर्त्तव्य का प्रसंग है, वहां वह नैतिकता के अन्तर्गत आता है और सभी क्षेत्रों मे कर्त्तव्य की पालना का तकाजा रहता है । सभी भिन्न–भिन्न क्षेत्रो की दृष्टि से सभी लोगों के साथ भिन्न–भिन्न कर्त्तव्यो की पालना की अनिवार्यता लगी हुई रहती है । कर्त्तव्य का अर्थ इस स्थिति से जितना करने योग्य है, उतना ही किया जाय—उसको धर्म के विशाल एवं व्यापक अर्थ के समकक्ष न बिठा दिया जाय ।

एक व्यक्ति अलग–अलग स्थानों पर तथा अलग–अलग स्थितियों में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। वह एक परिवार का सदस्य है तो परिवार के प्रति जो कर्त्तव्य निर्धारित हैं या जो उसे समीचीन लगते हैं, उनकी वह पालना करता है । परिवार के सदस्यो द्वारा संयुक्त जिम्मेदारी का निर्वाह करना, सामूहिक रीति से जीवन–यापन करना, एक दूसरे के प्रति हमदर्दी रखना, एक दूसरे के दुःख सुख मे शरीक होना, जो कुछ या जितनी भी वस्तु प्राप्त हो, उसका सबमें सम–वितरण करना—ये सब पारिवारिक कर्त्तव्यो की श्रेणी में आते हैं । इनके सिवाय भी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार नये–नये पारिवारिक कर्त्तव्य भी अर्जित होते रहते हैं । सदस्यो के भी अवस्था परिवर्तन के साथ नये–नये कर्त्तव्य भी निर्मित होते रहते हैं । जैसे एक बालक परिवार में जन्म लेता है तो उसके प्रति अन्य सदस्यों के कर्त्तव्य होते हैं तो ज्यो–ज्यो वह बड़ा होता जाता है, उसका भी अन्य सदस्यों के प्रति तथा परिवार के प्रति कर्त्तव्य निर्मित होता जाता है । जब वह कुछ बड़ा हो जाता है और अपना अध्ययन प्रारंभ करता है तो उसका एक और पारिवारिक कर्त्तव्य होता

हैं तो दूसरी ओर उसके विद्यार्थी के कर्त्तव्य भी पैदा हो जाते हैं। ये कर्त्तव्य एक दृष्टि से अस्थायी होते हैं क्योंकि जब वह अपना अध्ययन समाप्त करके व्यापारिक अथवा किसी अन्य अर्जन के क्षेत्र में जाता है तो उसके साथ उस क्षेत्र के कर्त्तव्य जुड़ जाते हैं। इस प्रकार एक ही व्यक्ति के जीवन मे विभिन्न-विभिन्न क्षेत्रों की दृष्टि से विभिन्न-विभिन्न कर्त्तव्यों का भार आ जाता है।

विविध रीति से कर्त्तव्यों का विस्तार

ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है और जीवन में विविध प्रवृत्तियों का प्रसार होता है, त्यों-त्यों उन प्रवृत्तियों सम्बन्धी विविध कर्त्तव्यों का विस्तार भी होता जाता है। अध्ययन करते समय विद्यार्थी के कर्त्तव्य सामने होते हैं तो अर्जन के क्षेत्र में घुसने पर उस धंधे से सम्बन्धित कर्त्तव्यों के साथ-साथ समाज और राष्ट्र से सम्बन्धित कर्त्तव्य भी सामने आ जाते हैं।

अध्ययन पूरा करने के पश्चात् यदि वह व्यापारिक क्षेत्र में जुडता है तो वहां के कर्त्तव्य अलग होते हैं, जिनको व्यापारी मिलकर निर्धारित करते हैं। व्यापारी एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करें तथा ग्राहकों के साथ कैसा व्यवहार रखें—यह सब उनके कर्त्तव्यों की सीमा में आता है। व्यापारी मंडल भी एक परिवार सा बन जाता है। यह परिवार अर्जित या बनाया हुआ होता है। बनाने वाले व्यापारिक परिवार के सदस्य ही होते हैं। वे इस व्यापारिक मंडल के सामान्य कर्तव्य समय की दृष्टि से निर्धारित करते हैं। उनमें समय की दृष्टि से ही परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहते हैं। सबने मिल कर जो कर्तव्य निर्धारित कर दिये, उनके पालन करने का कर्तव्य व्यापारिक मंडल के सभी सदस्यों का हो जाता है।

वैसे ही सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक जीवन व्यतीत करने के लिए समाज के अगुआ मिलकर कुछ नियमों का निर्धारण करते हैं। व्यक्ति का जीवन समष्टि की भावना के बिना नहीं चलता है। व्यक्ति जब जीना चाहता है तो परिवार का सम्बन्ध जैसे नजदीक का होता है तो समाज का सम्बन्ध परिवारों के माध्यम से जुड़ता है। यही सम्बन्ध समाज के अन्दर का सामूहिक कार्यक्रम बन जाता है। समाज शब्द समाज के सभी सदस्यों को स्पर्श करने वाला होता है। सामाजिक कार्यों के नियम भी समाज के अगुआ बनाते हैं। जब वे देखते हैं कि अमुक परिस्थितियों में निर्धारित किया गया नियम वर्तमान समाज-व्यवस्था में बाधक बन गया है तो वे उसमें परिवर्तन भी कर डालते हैं और इन सामाजिक कर्तव्यों का सिलसिला चलता रहता है, जिसका पालन समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक होता है।

कर्तव्यों के क्षेत्र का अधिक विस्तार होने पर प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय धरातल के कर्तव्य भी व्यक्ति के जिम्मे आ जाते हैं। राजकीय व्यवस्था की दृष्टि से राजकीय कर्तव्यो का वहन भी एक नागरिक को करना होता है। यदि वह नागरिकता के नियमों का पालन नही करता है तो वह अपने कर्तव्यों से ही नही गिरता बल्कि उसे राजकीय दड भी भोगना पडता है। इन राजकीय कर्तव्यो या कानूनों का निर्माण भी राज्य की व्यवस्था—निर्धारण मे पंहुचे हुए व्यक्ति ही करते हैं। बहुमत के आधार पर इन कानूनो का निर्माण होता है और आवश्यक यही है कि इन कानूनो का उद्देश्य व्यापक जनहित हो। राजकीय कर्त्तव्यो के निर्धारण की व्यवस्था भी स्थायी नहीं होती है। जनतत्र मे शासन सूत्र जब अलग अलग राजनीतिक दल सम्भालते हैं तो वे अपनी घोषित नीतियों के अनुसार उन कर्तव्यो में परिवर्तन लाते रहते हैं तथा अन्य कई दृष्टियों से भी इन में परिवर्तन होता रहता है।

और तो दूर रहा—सांसारिक सामान्य सम्बन्धो मे भी कर्तव्य बदलते रहते हैं। जब तक व्यक्ति का विवाह नही होता तो उस ब्रह्मचारी अवस्था में उसके कर्तव्य कुछ और होते है तथा विवाहित अवस्था मे उनमे परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार ससार के विभिन्न क्षेत्रो के कर्तव्यों का स्वरूप बनता बिगड़ता और बदलता रहता है। उनमे कभी भी स्थायित्व नहीं रहता।

कर्त्तव्यों और धर्म के स्वरूप की भेद-रेखा

जहा धर्म शब्द को कर्त्तव्य से टकरा दिया, वहा धर्म के मर्म की स्थिति का अनुभव करना आवश्यक है। इस अर्थ मे धर्म का स्वरूप तथा धर्म की वृत्ति अपनी विशेषता लिये हुए होती है। इस विशेषता के कारण धर्म कर्त्तव्य की सीमा से बहुत ऊपर उठ जाता है।

पहली बात तो यह है कि धर्म की भावना विशिष्ट रूप मे आन्तरिक जीवन से सम्बन्वित होती है। संसार के सभी या कई क्षेत्रो से सम्बन्धित रहने वाले व्यक्ति के अन्त:करण मे जो एक जागृत चेतना सी होती है, उसे ही शास्त्रीय परिभाषा मे एक जागृत आत्मा का नाम दिया गया है। इसी आत्मा के स्वरूप को आन्तरिक शक्ति या आन्तरिक ऊर्जा के नाम से भी कह दिया जाता है। आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या के अनुसार जो नास्तिक भी होता है याने कि आत्मा को नही मानता है, उसे भी बुद्धि या चेतना के अस्तित्व को तो स्वीकार करना ही होता है। यही आत्मतत्त्व की स्वीकृति है।

एक दृष्टि से जिज्ञासु व्यक्ति नास्तिक नहीं होता है। वह अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिये तर्क करता है, लेकिन भद्रिक प्राणी तर्क की स्थिति के माध्यम से मापदंड करके उसको नास्तिक की संज्ञा दे देते हैं। किन्तु सुज्ञ पुरुष समझ जाते हैं कि उसकी जिज्ञासु वृत्ति है। वह समझने के लिये तर्क कर रहा है। जब उसकी जिज्ञासा की पूर्ति हो जायगी, तब उसकी आस्तिकता का स्वरूप प्रकट हो जायगा। यह व्यक्ति के जीवन पर निर्भर करता है कि कौन कितने आत्मविकास के साथ चल रहा है तथा कौन किस भूमिका के साथ अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा है? यही जीवन की आन्तरिकता होती है—आन्तरिक शक्ति का प्रमाण होता है, जिसे आत्मा कहते हैं।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने का जो यत्न करता है, वह एक क्षण भी ऐसा नहीं बिताता, जब आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने मे न जुटा हुआ हो। वायु के बिना भी कुछ समय के लिये मनुष्य जीवित रह सकता है लेकिन वह आत्मशुद्धि के प्रयास के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है। वह सोचता है कि एक क्षण के अनन्तवें भाग के लिये भी अगर मैंने आत्मिक भाव छोड़ दिया तो आत्मविकास की प्रक्रिया बाधित हो जायगी। शुभ भावों का अभाव हुआ नहीं कि आत्मघात की अवस्था पैदा हो जायगी। यही सूक्ष्म दृष्टिकोण है कि एक साधक के लिये वायु से भी अधिक धर्म महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे धर्म को जिसने अपनी अनुभूति में रमा लिया है, वही श्री धर्मनाथ भगवान् की सच्ची आराधना और प्रार्थना कर सकता है।

प्रार्थना की पंक्तियों में यही संकेत है—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं,
भग न पड़सी हो प्रीत।
बीजो मन मन्दिर आणुं नही,
ए एम कुलवट रीत॥

हे धर्म जिनेश्वर, मैं आपका गुणगान करता हूं और उसमे रंग जाता हूं। उस रंग में कोई भी दूसरा रंग आकर रग-भंग नहीं कर सकता है। यह दूसरा रंग कोनसा है? यह है पांचों इन्द्रियो के विषयों का लुभावना रंग, किन्तु दुनिया इस रंग को जो रग मानती है, वह एक भगवद् भक्त के लिये रंग नहीं है। उसका रंग तो होता है धर्म का रंग, जो उसके अन्तःकरण को गहराई से रंग देता है। इसीलिये उसकी धर्म जिनेश्वर के प्रति प्रीत गहरी और अटूट हो जाती है कि वह अपने मन-मन्दिर मे किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं होने देता

है और उसको अपनी गौरवभरी रीति मान लेता है । ऐसा धर्म का रंग और स्वरूप होता है जो शाश्वत और स्थायी रहता है। यही वास्तव मे कर्त्तव्यों के स्वरूप तथा धर्म के स्वरूप की बीच की भेदरेखा होती है ।

धर्म को आत्मा ही समझती है और आत्मा धर्ममय हो जाती है

जहां कर्त्तव्यो का स्वरूप बाहरी परिस्थितियों के आधार पर निर्धारित होता है, वहां धर्म का स्वरूप आन्तरिक स्फुरणा से उत्पन्न होता है और अन्तःकरण मे व्याप्त हो जाता है । धर्म का स्वरूप बाहरी पदार्थों या बाहरी परिस्थितियों से नहीं आता, स्वय की अनुभूति से ही प्रकट होता है । धर्म को आत्मा ही समझती है तथा आत्मा धर्ममय होकर अपना उच्चतम विकास साध लेती है ।

बाहरी पदार्थों के सहयोग से तथा रासायनिक प्रक्रिया से जो रंग बनाये जाते हैं, वे कपड़ों को रंग सकते हैं और रंगने वाले के हाथो को रग सकते हैं, लेकिन वे रंग भीतरी आन्तरिकता को नही रंग सकते हैं । वे बाहरी तत्वों को रंगते भी है, फीके भी पड़ते हैं और धोये भी जा सकते हैं किन्तु अन्तःशक्ति से अभिव्यक्त होने वाला धर्म का रंग गहरा भी होता है और अमिट भी होता है । धर्म यदि जीवन मे वास्तविक रूप से एक बार अभिव्यक्त हो गया तो वह धोया नही जा सकता— मिटाया नहीं जा सकता । इसलिये कवि ने संकेत दिया है कि 'धर्म जिनेश्वर गाऊ रंगशु" ।

धर्ममय जिसकी आत्मा हो जाती है, वह यही चिन्तन करता है कि धर्म जिनेश्वर को मैं अपनी अन्तश्चेतना के साथ अटूट रूप से सम्बन्धित करलूं क्योंकि मेरी अपनी आत्मा का मूल स्वरूप धर्म जिनेश्वर जैसा ही है । इस कारण उस स्वरूप के साथ यदि मेरी आत्मा की लो लग गई तो उसके मूल स्वरूप को प्राप्त करना कठिन नहीं रह जायगा । अत. एक क्षण के लिये भी धर्म के इस रंग मे किसी भी तरह से भग न हो । उसका यही उपाय है कि मन मन्दिर मे किसी भी अन्य तत्त्व को कोई स्थान नही दिया जाय । यह मन मन्दिर इतना धर्मशील बन जाय कि उसमे किसी दूसरे रंग की झलक तक नही आ सके। तो क्या दूसरे रंग प्रारंम्भ मे ही नष्ट हो जायेगे? नही ऐसा नही होता है । प्रारभ में ही नष्ट होने का प्रसंग नही है। प्रारभ मे तो उन्हे नष्ट करने का सद् विवेक पैदा होगा । इस विवेक से ममत्व मिटेगा और तटस्थ भाव आयगा । जहां संसार के अन्य रंग हैं और वे रग सांसारिक अवस्था मे रहते हुए व्यक्ति के मन मे आते भी हैं, लेकिन वे उसी रूप मे आते हैं जैसे एक धाय माता राजा की सन्तान का पालन पोषण करती है ।

पालन पोषण की सभी क्रियाएं करती हुई भी वह सोचती रही है कि या मेरी सन्तान नहीं है—मेरी अपनी आत्मीय नहीं है। धाय माता जैसा ध्यान है सांसारिक रंगों के साथ एक आत्मार्थी व्यक्ति का होता है। वह उन रंगों को अपने रंग नहीं मानता। उसके लिये अपना रंग केवल धर्म का रंग होता है

आत्मा नाविक, शरीर नौका और धर्म की मंजिल

जिस आत्मा ने वास्तविक रूप में धर्म के स्वरूप को समझा है, उस आत्मा के मन में अन्य बातें भी आ सकती हैं लेकिन धर्म का चिन्तन एक क्षण के लिये भी उससे दूर नहीं रह सकता है। संसार मे रहते हुए गृहस्थ परिवार, समाज या राष्ट्र की आवश्यकताओं की तरफ भी ध्यान जाता है उनकी पूर्ति के लिये भी वह प्रयास करता है किन्तु इन सबके बीच मे भी जल कमलवत् रहता है। कीचड़ में वह खड़ा होता है लेकिन कीचड़ से अपने संलग्न नहीं रखता है। वह धर्म के रंग की सुरक्षा के लिये प्रतिपल सन्नद्ध रह है। इस सन्नद्धता का कारण होता है उसका विवेक का दीपक जो प्रति जलता रहता है। विवेक के जागृत रहने से उसके आन्तरिक स्वभाव में भी बाधक तत्त्व आता है, वह उसके हृदय में स्थान नहीं पा सकता है। दृष्टिकोण के साथ उस धार्मिक व्यक्ति के मन मन्दिर में सदा वीतराग परमा विराजमान रहते हैं।

एक धार्मिक पुरुष संसार रूपी नदी के तट पर खड़ा है और दू तट पर पंहुचना चाहता है तो वह उस समय सारी स्थिति तथा सारे साध को पहले ध्यान में लेता है। दूसरे तट पर उसे धर्म की मंजिल दिखाई दे है, जहां पंहुच जाने पर शाश्वत सुख का ध्येय सामने होता है। उसे सं रूपी नदी पार करनी है। उस नदी को पार करने वाला नाविक जब सन्न होता है तो वह आत्मा होती है और आत्मा रूपी नाविक तब अपनी शरी रूपी नौका को नदी पार करने के लिये काम में ले लेता है। आत्मा नाविक शरीर नौका हो, तब धर्म की मंजिल को प्राप्त कर लेना सहज हो जाता है

एक पुरुष नदी के इस तट पर खड़ा है। उसकी इच्छा हुई परले तट पर जो सुन्दर रमणीय दृश्य है, वहां पंहुचकर सदा सर्वदा के लि सुख प्राप्त किया जाय। इधर ठीक उसके विपरीत दशा है तो पहले वह प किनारे पहुंचने के लिये जानकारी प्राप्त करेगा और अच्छे जानकार से पूछे कि परले किनारे पर कैसे पहुंचा जाय? तब जानकार व्यक्ति कहेगा कि तट पर दो तरह की नौकाएं हैं—एक लकड़ी की और दूसरी पत्थर की। अ

अगर परले किनारे पर पहुंचना है तो पत्थर की नौका का नहीं, लकड़ी की नौका का उपयोग करना। परले किनारे पर पहुंच कर लकड़ी की नौका को भी छोड़ देना। अगर पत्थर की नौका का उपयोग किया तो डूब जाओगे। परले किनारे पर पहुंचने के बाद लकड़ी की नौका को भी छोड़ दोगे तभी अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी। ऐसा ज्ञान पहले हो जाता है, तब वह व्यक्ति अवश्य ही उस लकड़ी की नौका का उपयोग करेगा और समय पर उसको भी छोड़ने का ध्यान रखेगा। इस ध्यान के साथ वह प्रस्थान करेगा तो अभीष्ट फल को भी प्राप्त अवश्य करेगा। यदि उसने इसमें भी पूरा विवेक नहीं रखा और लकड़ी की नौका को भी ठेठ किनारे पहुंच कर नहीं और बीच में ही छोड़ दी तो क्या उसको अभीष्ट फल प्राप्त हो सकेगा ? ज्ञान, ध्यान और विवेक—सब साथ रहने चाहिये।

वैसे ही आत्मिक धर्म की वास्तविकता को समझ लेने वाला व्यक्ति विकास की दृष्टि से प्रयोग करता है और अपनी यात्रा प्रारंभ करता है। लकडी की नौका के समान यह मनुष्य का शरीर पुण्य का फल होता है, पाप का कारण नहीं। इसको भी पुण्य रूप कहा है। इस शरीर को नौका मान कर जो चलता है तो इसी मे मन मन्दिर है। शरीर का निर्वाह करने के लिये अन्न, वस्त्र आदि ग्रहण करना पडता है तथा सम्बन्धित क्षेत्रों के कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है लेकिन सब कुछ करते हुए भी ध्यान यही रहता है कि आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्रकट करना है। उस साध्य के लिये बाकी सभी साधन हैं। जिस दिन साधना परिपूर्ण बन जायगी और आत्मा समझ लेगी कि अब इस शरीर की भी आवश्यकता नहीं है तो वह उसका परित्याग कर देगी। इसीलिये शरीर को नौका की उपमा दी है और आत्मा को नाविक की।

आत्मा कुशल नाविक बन जाय तथा शरीर को नौका बना ले तो ठेठ पंहुचकर नौका को छोड़ देने पर धर्म या स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है।

धर्म और कर्तव्य : साध्य और साधन

धर्म का स्वरूप समझने के लिये मैं दो बातें रख गया हूं—कर्तव्य और धर्म। कहां इन दोनो मे साम्य है तथा कहां इनके बीच भेदरेखा है — यह आपने समझ लिया होगा। धर्म और कर्तव्य एक प्रकार से साध्य और साधन रूप हैं। धर्म आत्मा का मूल शुद्ध स्वभाव है, जिसे प्राप्त करने के लिए कर्तव्यों का पालन साधन रूप है। इसमे भी मुख्य प्रश्न आध्यात्मिक धर्म को विकसित करने का है। यह आध्यात्मिक धर्म बड़े रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय,

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप है। बारीकी से चिन्तन करेंगे तो यही आत्मा का निजी स्वभाव है। इस स्वभाव का विकास आत्मा में आत्मा के द्वारा ही होता है। जब तक यह आत्मा पूर्ण शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर लेगी तब तक विकास की गति निरन्तर चलती रहेगी। विकास चलता रहेगा तो साधनों का सम्बल चलता रहेगा और साध्य प्राप्त हो जाने पर साधनों की आवश्यकता समाप्त हो जायगी।

धर्म का ऐसा स्वरूप जिसके मन में समा जाता है, वह प्रत्येक क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य को भी भलीभांति समझता है तथा उससे ऊपर अपने धर्म का भी पूर्ण रूप से ध्यान रखता है। ऐसी उसकी अविचलित स्थिति हो जाती है। ऐसा आत्मधर्म का स्वरूप कभी भी परिवर्तित नहीं होता, टूटता या बदलता नहीं है। यह निरन्तर विकसित होता रहता है। ऐसी अविचलित व अखंड दृष्टि से जब आत्मा का विकास होता है, तब समझना चाहिये कि वह वास्तविक आत्मिक धर्म है। यही धर्मनाथ भगवान् का उपदेशित धर्म है।

यह धर्म शाश्वत है और अपरिवर्तनीय है। समय के नाम से जो लोग इसमें परिवर्तन लाने की बात कहते हैं, वे वस्तुतः धर्म के मर्म को नहीं समझते हैं। परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य समयानुसार बदल सकते हैं किन्तु इस आत्म–धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता है और न ही किया जा सकता है। मनुष्य के कर्त्तव्य मात्र ही धर्म नहीं हैं, वे धर्म को पाने के साधन हो सकते हैं। कर्त्तव्यों को भी सामान्य रूप से धर्म कहा जा सकता है क्योंकि वे भी व्यवस्था के सूत्र होते हैं। लेकिन आत्मधर्म छद्मस्थ लोगों के निर्वहन का तत्त्व नहीं है, बल्कि वीतराग दशा तक पहुंचाने वाला सुदृढ सम्बल है। यह आत्मशुद्धि का दाता है। इस धर्म में परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। यदि परिपूर्णता से इस धर्म का पालन नहीं किया जा सकता हो तो यथाशक्ति ही इसको अंगीकार करें लेकिन इस असमर्थता की दृष्टि से इसमे परिवर्तन करने का समर्थन न करें। जितने अंशों में इसका पालन कर सकते हों, उतने अंशों में इसका पालन ईमानदारी से करें तथा परिपूर्ण पालन की अभिलाषा रखें। अपनी दुर्बलता की आड़ मे धर्म के शाश्वत स्वरूप में परिवर्तन लाने की दलीलें पहले अपने आत्मस्वरूप को ही विकृत बनाने वाली होती हैं। साध्य को दृष्टि से ओझल कर देगे तो प्राप्त साधनों का भी सदुपयोग नहीं किया जा सकेगा। धर्म को उसके अखंड एवं पूर्ण स्वरूप में ही समझें और उस स्वरूप को साध्य बनावे। साध्य की दिशा में अपनी शक्ति के अनुसार गति करें तथा साधनों

की उस दिशा में ही स्वस्थ प्रवृत्ति रखें। इसी रूप में धर्म तथा कर्त्तव्यों के साम्य को भी समझें तथा उनके बीच की भेदरेखा को भी ध्यान में लें।

धर्म का पूर्ण स्वरूप एवं साधना की गति

धर्म के परिपूर्ण स्वरूप के ज्ञान को ही सम्यक् ज्ञान कहा है। उस पर पूर्ण श्रद्धा हो यह सम्यक् दर्शन है और जान मान कर उस पर आचरण किया जाय—यह सम्यक् चरित्र है। आचरण किस सीमा तक किया जाय—यह व्यक्ति या साधक के अपने संकल्प तथा सत्साहस पर निर्भर करता है। लेकिन आचरण के साध्य रूप मे धर्म का परिपूर्ण स्वरूप अवश्य ध्यान में रहना चाहिये ताकि साधना की गति भले अपनी शक्ति के अनुसार हो, पर साध्य की दिशा तथा साध्य का पूर्ण स्वरूप अवश्य स्पष्ट रहे।

उदाहरण के तौर पर समझें कि एक साधक प्रारंभ में ही साधु जीवन की भूमिका के अनुसार अहिंसा धर्म के पालन में अपने आप को समर्थ नही मानता है तो वह गृहस्थ जीवन की भूमिका के अनुसार ही अहिंसा का पालन करे लेकिन यह न मान बैठे कि अहिंसा धर्म की सीमा वहीं तक है जहां तक वह पालन कर रहा है। साधना की गति में अन्तर हो सकता है, लेकिन धर्म के पूर्ण स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं होता है। वह अपनी दुर्बलता की आड़ में यदि किसी रूप मे हिंसा को भी अहिंसा का जामा पहना कर उसके औचित्य को सिद्ध करना चाहता है तो वह उसकी अधार्मिक प्रवृत्ति ही कहलायगी। अहिंसा का पूर्ण पालन भी होता है और आंशिक पालन भी, लेकिन अंश को पूर्ण बताना दुर्बुद्धिपूर्ण कहा जायगा।

इस दृष्टि से यदि धर्मनाथ भगवान् के आत्मधर्म को उसके यथार्थ रूप मे समझ लें तो कर्तव्य और धर्म का सम्यक् विवेक भी हो जायगा तथा कर्त्तव्य की तुलना मे धर्म की उच्चता तथा अपरिवर्तनशीलता भी समझ मे आ जायगी। यह विवेक रहता है तो दोनों के बीच मे सन्तुलन भी कायम रहता है। इस सन्तुलन के साथ कितनी ही भयानक विपदाएं आवें, तब भी साधक अपनी अवस्था से विचलित नही होता है।



हुं रागी, तू निरागी, मिलनो किम होय?

धर्म जिनेश्वर गाऊं, रंगशु.........

संसार में रहने वाली आत्मा अपने विकास के लिये किसी न किसी सहारे की चाह करती है। संसार की अवस्था ही विचित्र प्रकार की होती है और आत्मा इसके चित्र विचित्र दृश्यों को देखकर आश्चर्यचकित भी होती है तो विमुग्ध भी बनती है। किसी दृश्य से वह भयभीत भी होती है तो किसी दृश्य से वह सन्ताप का अनुभव भी करती है। इन सभी प्रकार के दृश्यों के बीच मे अपने कार्यों के लिये व्यक्ति को किसी दूसरे के सहारे की जरूरत महसूस होती है। उससे अधिक किसी समर्थ का उसको सहयोग मिले तो उसके कार्य उसके लिये आसान हो जाते हैं। इसी प्रकार उसको अपने जीवन विकास में भी किसी सुयोग्य आश्रय की अपेक्षा रहती है। जितने भी इस संसार के अन्तर्गत कार्य दृष्टिगत हो रहे हैं, उन सबमें एक दूसरे का परस्पर सहयोग अपेक्षित समझा गया है।

संसारी आत्मा तो ऐसे पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा रखती ही है, लेकिन ज्ञानीजनों ने भी इस विषय में अनुभूतिपूर्वक अपने हार्दिक उद्गारों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परस्परोपग्रहो जीवानाम्—५ त० ५।१९ सबके लिये परस्पर का उपकार रहता है, परस्पर के सहयोग के बिना व्यक्तियों की जिन्दगी बसर नहीं होती है, सामाजिक कार्य नहीं बनता है, राष्ट्र का धरातल भी समुन्नत नहीं हो सकता है तथा विश्व की विशेषता भी सामूहिक सहयोग के बिना प्रकाशित नहीं होती है।

लेकिन सहयोग किसका लें ?

सहयोग या आश्रय आवश्यक है, लेकिन प्रश्न उठता है कि अपने सभी प्रकार के कार्यों मे कोई भी व्यक्ति किसका सहयोग ले ? सभी व्यक्तियो का परस्पर मे एक सरीखा सहयोग अपेक्षित नही होता है । इसलिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, अपने-अपने विचारों के अनुरूप, अपने-अपने कार्यकलापों के साथ अपने ही समान प्रकृति के व्यक्तियों को पारस्परिक सहयोग के लिये सामान्यतया आमंत्रण दिया जाता है । समान प्रकृति वालों का पारस्परिक सहयोग यदि बैठ जाता है तो वे जिस कार्य को भी करना चाहते हैं, वह कार्य भली प्रकार बन सकता हैं । इस दृष्टि से एक दूसरे के प्रति उनका उपकार करने का प्रसंग भी बना रहता है । दोनों तरफ की पारस्परिक सहायता रहने से वह सहयोग कहलाता है । जहां एक दुर्बल व्यक्ति हो और दूसरा सबल और समर्थ व्यक्ति—तो वहां सहायता का क्रम एक ओर से ही चलता है याने कि वह सबल व्यक्ति सदा ही दुर्बल व्यक्ति को सहायता देता रहता है तथा दुर्बल सहायता लेता रहता है तो ऐसी अवस्था को आश्रय कहते हैं । वहां उपकार की एकतरफा गति रहती है । सहयोग समानता के आधार पर चलता है तो आश्रय समर्थ व्यक्ति की तरफ से मिलता है सभी को कभी आश्रय या कभी सहयोग की अपेक्षा रहती है ।

इस प्रकार के सहयोग अथवा आश्रय के सम्बन्ध में संसार के सभी प्राणी अपनी अपनी स्थिति से अपने अपने स्थान पर चिन्तन करते ही हैं । लेकिन जहां संसार की दशा से विमुखता का प्रसंग आता है और जब ससार के ताप-अनुताप से मन संतप्त हो उठता है, तब एक विशिष्ट आश्रय की खोज करनी होती है, ऐसा आश्रय जो संसार के ताप और अनुताप से मुक्ति दिलाने में सहायक बन सके । ऐसी संतप्त मन वाली आत्मा ऐसे आश्रय के लिये आतुर बन जाती है । महावीर प्रभु ने आचारांग सूत्र के अन्दर यह भी सकेत दिया है कि—'आतुराः परिताप.....' अर्थात् आतुर व्यक्ति परिताप को प्राप्त होता है । जिस लक्ष्य को वह पाना चाहता है, उसके लिये वह भरपूर प्रयत्न करता है । वह अपना पूरा पुरुषार्थ लगाता है और उसके बाद भी जब लक्ष्य की तरफ आगे नही बढ़ पाता है तो वह आतुर बन जाता है । जिस लक्ष्य या वस्तु को वह अत्यधिक अभीष्ट समझता है, उसको प्राप्त कर लेने का उसका प्रयास भी अत्यधिक होता है और उसमे सफलता न मिलने पर उसको परिताप भी अत्यधिक होता है । इस मनःस्थिति से अत्यधिक आतुरता उत्पन्न हो जाती है । ऐसी मानव स्वभाव को विचित्र दशा है ।

इस विचित्र दशा में अगर उसको सही सहारे का हाथ पकड़ में आ जाता है तो उसकी डोलायमान होने वाली मन की स्थिति स्थिरता एवं सन्तोष की ओर आगे बढ़ने लगती है। यह सहयोग या आश्रय उसके लिये प्राणदायक बन जाता है। मानसिक और आत्मिक अवस्थाओं मे सबसे बड़ा आश्रय होता है परमात्मा का, क्योंकि वह स्वरूप ही इस आत्मा के लिये आदर्श रूप होता है। परमात्मा का आत्मा को आश्रय होता है, क्योंकि वह एक समर्थ का सहारा होता है। किन्तु यह आश्रय अव्यक्त होता है। उसको अपने अन्तः-करण मे ही व्यक्त करना होता है तथा अन्तःकरण मे ही उस आश्रय से बल प्राप्त किया जा सकता है। उस अव्यक्त आश्रय को व्यक्त करने के लिये बाहर का आश्रय होता है ज्ञानीजनों और साधुजनों का। ये ज्ञानी जन और साधु जन ही परमात्मा से साक्षात्कार करने का याने कि अपनी ही आत्मा के परमात्म–स्वरूप को समझने तथा पाने का मार्ग दिखाते हैं। इन ज्ञानी जनों एवं साधु जनो का एक विकासशील आत्मा के लिये आश्रय भी होता है तो उनका सहयोग भी मिलता है। ऐसे समुन्नत पुरुषो का ही सहयोग और आश्रय लिया जाना चाहिये जिनके सम्बल से छोटा मोटा तो क्या आत्मकल्याण का महद् कार्य भी सहज रीति से सम्पन्न किया जा सकता है।

परमात्मा और ज्ञानीजनों का आश्रय

कभी शुभ प्रसंग मिलता है तो ज्ञानीजनों के आश्रय से इस आत्मा में विकास का मोड़ आ सकता है। यदि आत्मा के समक्ष यह विज्ञान उपस्थित होता है कि संसार की दशाएं तो दुःख, द्वन्द्व और परिताप से भरी हुई होती हैं, इसलिये परमात्मा का ध्यान लगाने से सुख और शांति मिल सकती है तो उस विज्ञान से आत्मा का पुरुषार्थ जागृत बन सकता है तथा वह परमात्मा और ज्ञानीजनों के आश्रय को दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेने के लिये तत्पर बन सकती है।

ज्ञानीजनों के आश्रय से उस सन्तप्त आत्मा को यह मार्ग दीख जाता है और समझ मे आ जाता है कि परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ लेने पर ससार के सभी तरह के संन्तापों से छुटकारा मिल जाता है। तब वह अन्तः-करणपूर्वक उस मार्ग का अनुसरण करने लग जाती है। इस मार्ग को पूर्ण श्रद्धा के साथ ग्रहण करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इस मार्ग पर चलते हुए कई बार विकट परिस्थितियां सामने आ जाती हैं और वे उसे उस मार्ग से विचलित कर देना चाहती हैं। इस प्रकार की विकट परिस्थितियों में वही

क विचलित नहीं होता है जो परमात्मा और ज्ञानीजनों के आश्रय को मजः
से पकड़े रखता है। वह परमात्मा एवं धर्म की आराधना में इतना दृढ़
जाता है कि दुनिया मे चाहे जितने ऊलट-फेर हो जावें, वह अपने मार्ग
ाहीं हटता है। जिस प्रकार प्रकृति के तत्त्व विचलित नही होते हैं, उसी
र सच्चा साधक भी अविचल गति से आगे बढ़ता रहता है। जैसे सूर्य
ी गति से उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार वह अनादि काल से चलता
ा है, उसी प्रकार साधक की गति मे भी स्थिरता और सुदृढ़ता होती है।
संसार के भूतल पर नक्शे बनते, विगड़ते और वदलते रहते हैं, नई वस्तियां
ी होकर उजड़ती है और नई बसती हैं तथा अन्य भौतिक परिवर्तन आते
हैं लेकिन सूर्य की गति में कोई परिवर्तन नहीं आता है। साधक का
य भी जब सुदृढ़ होता है तो वह भी स्थिर गति से अपने मार्ग पर चलता
ा है।

ात्मा का आश्रय कब और कैसे ?

परमात्मा का आश्रय तो सबको चाहिये; लेकिन क्या वह यो ही मिल
गा ? परमात्मा का आश्रय पाने के लिये अपनी आत्मा के स्वरूप को एवं
ात्मा के स्वरूप को समझना होगा, दोनों की तुलना मे अपने आत्मस्वरूप
विकारावस्था को परखना पडेगा तथा उन विकारो को दूर करने के लिये
नपुरुषार्थ का सकल्प जगाना होगा—तभी उस आत्म-विकास के कार्य मे
ात्मा का आश्रय प्राप्त हो सकेगा।

इस संसार में जड़ और चेतन-इन दोनो तत्त्वों के क्रियाकलाप देखने
मिलते हैं। चेतन तत्त्व का ही परम उत्कृष्ट रूप परमात्म-स्वरूप मे प्रकट
ा है। इस प्रकार विकास एवं अविकास की दृष्टि से आत्माओ के दो वर्ग
जाते हैं—परमात्मा और आत्मा। इसके साथ ही दो अवस्थाएं सामने आती
-सिद्ध अवस्था एवं संसार अवस्था। यह सिद्ध अवस्था ही संसारी आत्मा के
साध्य मानी गई है। इन अवस्थाओं को ब्रह्म और माया या प्रकृति और
आदि कई नामों से पुकारते हैं।

चाहे संसार अवस्था मे हो या सिद्ध-अवस्था मे—सभी अवस्थाओ में
न्य ही प्रधान तत्त्व होता है। आत्मा का ही चमत्कार सर्वत्र दिखाई देता
। आत्मा की ही शक्तियो का प्रसार इस सृष्टि मे भी है तो मुक्ति मे भी है।
विषय का यदि समग्र रूप लिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्म-
न ही एक अपूर्व तत्त्व होता है।

आत्मा ही आत्मतत्त्व को भलीभांति प्रतीति कर लें, तब स्वयं को स्व
स्वरूप स्पष्ट होता है। इस स्वरूप को प्राप्त करने का जिस माध्यम के द्वारा
बनता है, वह धर्म का प्रसंग है। जिन साधनों की साधना से आत्मस्वरू
विकसित किया जा सकता है तथा आत्म—शक्तियों को प्रकट कर सकते है
साधनों का ही सामूहिक नाम धर्म है। और मूल मे धर्म आत्मा का शुद्ध
है, जो इन साधनों की साधना से प्राप्त होता है। इन्हीं साधनों मे परमात्म
आश्रय और साधुजनों का सहयोग परमावश्यक साधन माना गया है। इ
एक साधक आत्मा सच्चे हृदय से परमात्मा का आश्रय प्राप्त करने के लिये
बढ़ती है। उस समय ज्ञानी जनों का उपदेश भी उसको मिलता है, फि
सहज ही मे वह हिम्मत नहीं पकड़ पाती है। वह सोचती है कि मैं प्र
रास्ते पर कैसे चलूं ? परमात्मा के साथ प्रीति कैसे जोड़ूं ? मेरी स्व
प्रकृति बड़ी विचित्र है—मेरा इस विचित्र दशा में परमात्मा के साथ स
कैसे जुड़ेगा ?

"हुं रागी, तू निरागी" फिर सम्बन्ध कैसे ?

संसार में रहते हुए यह आत्मा रागात्मक वृत्तियों से बंधी हुई
है, जबकि परमात्मा का स्वरूप पूर्णतया वीतरागमय होता है याने कि दो
वर्तमान स्वरूप में रात और दिन का अन्तर है। अतः सहज ही मे प्रश्न
है कि फिर दोनों का सम्बन्ध कैसे जुड़े और दोनों का मिलन कैसे हो? मिल
समान प्रकृति वालों का होता है, विरोधी प्रकृति वालों का नहीं
आत्मा तो रागी है और परमात्मा निरागी—फिर दोनों के मिलने का
तरीका हो सकता है ?

परमात्मा तो अपने स्थिर वीतराग स्वरूप मे विराजते हैं, इ
यह दायित्व इसी आत्मा पर आता है कि वह अपनी प्रकृति को परमात्म
की समानता में ढाले—वह अपने राग को व्यतीत करने की दिशा में आगे
तब दोनों की एक दिशा होगी और तब दोनों के सम्बन्ध जुड़ सकेंगे तथा एक
दोनों का मिलन भी सभव हो सकेगा। इसी समस्या पर धर्म जिनेश्वर
प्रार्थना में भी विचार किया गया है। कवि आनन्दघन जी कहते हैं कि—

एक पखी कैम प्रीति पखड़े,
उभय मिल्या होय संध।
हूं रागी, हूं मोहे फंदियो,
तूं निरागी निरबंध ॥

स साधक के ही हार्दिक उद्गारों को कवि प्रकट कर रहे हैं कि ज्ञानी जनों
सहयोग से परमात्मा के प्रति प्रीति जोडने की दृढ़ अभिलाषा साधक की है,
न्तु एक पक्ष की तरफ से ही प्रीति कैसे हो सकती है? उसके लिये दोनों
ों की प्रकृति—समानता आवश्यक है। एक हाथ वढाता है और दूसरा अपना
थ नहीं बढ़ाता तो दोनों हाथ कैसे मिलेंगे? एक व्यक्ति अपने जीवन को
हयोग के लिये उपस्थित कर रहा है, लेकिन दूसरा व्यक्ति अगर उस सहयोग
अपना मुंह मोड रहा है तो दोनों के सहयोग का एक रूप कैसे वन सकता है?

साधक अपनी भावुकता में निवेदन करता है कि हे भगवन् मेरी दशा
ड़ी विचित्र है। मैं तो रागयुक्त हूं और मोह से बंधा हुआ हूं, जवकि आप
गमुक्त और निर्वंध हैं। यह तो दोनों के बीच में बड़ी भारी दीवार है—
र दोनों के सम्बन्ध कैसे जुड़ सकते हैं? यह राग की दीवार तोड़े बिना
रमात्मा से प्रीति का सम्बन्ध नहीं जुड सकता है। यह राग संसार के पदार्थों
। राग है और यह मोह सांसारिक सम्बन्धों का मोह है। राग और मोह
दार्थों और सम्बन्धों में नहीं हैं, वह तो इस आत्मा मे है, जो उसने इन पदार्थों
सम्बन्धो के प्रति अपने मे वना रखा है। यह कल्पना, विमुग्धता और प्रलु-
ता आत्मा के लिये हितकर नहीं होती है।

रागात्मक मोह की धारा इस तरह निकलती और बहती है कि एक
क्ति ने लाल रंग के कपड़े को बढिया मानने की कल्पना कर ली। अब ज्यों
उसे लालरंग का कपडा प्राप्त होता है कि उसके प्रति उसका राग जम जाता
। अगर लाल रंग का कपडा नही मिला तो उसका मन दुःखी होता है। रंग
, डिजाईन हो, स्वाद हो या वैसे पदार्थ हों तो अपनी अपनी पसन्द के
ताबिक उनके साथ आत्मा अपना राग बना लेती है, उन्हें चाहती है और
नके लिये गाढा मोह अपना लेती है। यह मनुष्य के मन की पकड होती है।
ह पकड़ जब नाशवान तत्त्वों के साथ रागात्मक मोह के रूप मे जकडी रहती
, तब वह व्यक्ति रागी कहलाता है। इसी पकड को जो अविनाशी तत्त्व के
ाथ जोड लेता है, वह राग को समाप्त करता जाता है और अन्ततोगत्वा वीतराग
न जाता है। वीतराग और रागी का सम्बन्ध नहीं जुड सकता है। यह
म्बन्घ तभी जुड सकता है जब रागी भी अपने राग को व्यतीत करने के
ाधना मार्ग पर अग्रगामी बने। ज्यो ज्यो इस साधना मार्ग पर प्रगति होगी,
ों त्यो यह सम्बन्ध प्रगाढ बनता जायगा तथा एक दिन ऐसा भी आ सकता
जब रागी भी वीतराग बन जायगा और उसका वीतराग के साथ सदा सदा
लिये मिलन हो जायगा। दोनों एकरूप बन जायेंगे।

आत्मा ही राग का जाला बुनती है, खुद ही फंसती है और खुद निकल सकती है

जब आत्मा नाशवान् तत्त्वों के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध लेती है तो उसके विविध रूप में दुष्परिणाम प्रकट होते हैं, जिन्हें संसार रहते हुए आप लोगों को देखने का प्रसंग आता होगा। आदमी के खान पान रहन सहन का ढग बदलता रहता है। उसमें पदार्थों का रूप रंग भी बद रहता है, लेकिन राग और मोह का क्रम एक सा बना रहता है। एक सी पगडियां नहीं हैं—अलग अलग रंगों की हैं, लेकिन अपनी अपनी के लिये सब का अपना अपना राग है–मोह है। जिन्होंने पगडियां छोड़ तो उन्हें अपने बालों को तरह तरह की स्टाइल में संवारने पर ही राग बाल काले अच्छे लगते हैं तो उनके सफेद हो जाने पर भी ऐसे द्रवों का किया जाता है कि वे काले दिखाई देते हैं। ये सब रागात्मक भावना के होते हैं। राग अपने शरीर के प्रति, अपने सांसारिक सम्बन्धों के प्रति अपनी सुख सुविधा के पदार्थों के प्रति होता है और जहां जहां राग हो तो वहां-वहां उसको सहेजने की वृत्ति बनती है। राग और मोह के तृष्ण फैलाव होता है।

राग और मोह का यह फैलाव मकड़ी के जाले की तरह उलझ होता है। जैसे एक मकड़ी अपना जाला बुनती है और वही उसमे ऐसी फंस है कि निकलने की इच्छा होने पर भी निकलना कठिन हो जाता है, राग और मोह का जाला स्वयं आत्मा ही बुनती है तथा स्वयं ही उसमे जाती है—फंस जाती है। किन्तु उस जाले से निकलने का पुरुषार्थ कर क्षमता भी इसी आत्मा में होती है। सज्ञाहीन दशा मे वह दुर्बलता का करती है, लेकिन जब उसे अपने शक्तिशाली स्वरूप का भान होता है मोह के जाले को छिन्न–भिन्न कर देती है तथा रागात्मक बन्धनों को दू कर डालती है।

जब एक रागी आत्मा अपनी रागात्मकता को तोड़ने का संकल्प है और उन बंधनों को काटने की चेष्टा करती है, तब वह उस दिशा मे हो उठती है। कई बार भावना सही होने पर भी मोह की प्रबलता घेर है तो उस आत्मा के चिन्तन में परिताप पैदा होता है और वह आतुर हो है। उस आतुरता के कारण मनोदशा के रंग भी बदलते रहते हैं। कभी म राग हावी हो जाता है तो कभी संयम का बल बढ़ जाता है और आत्मा

वाणी सुनती है एवं वीतरागता के मार्ग पर मजबूती से चल पड़ती है ।

जितना राग उतना दुःख, राग हटने से ही सुख

किसी के भी प्रति राग होता है तो उसके प्रति ममत्व जागता है । ममत्व अंधा होता है । जिसके प्रति राग या ममत्व होता है, उसके प्रति गुण दोष की दृष्टि समाप्त हो जाती है । अपना सो अपना चाहे कैसा भी हो और जो अपना नहीं, उसके लिये या तो द्वेष होगा या उपेक्षा । ममत्व के आते ही समत्व का भाव समाप्त हो जाता है । इसलिये जितना राग है, वह एक प्रकार से दुःख मात्र है तथा मोहनीय कर्म का बंधन है । यह कर्म-बंधन भविष्य को भी दुःखमय बना देता है । इस कारण वास्तविकता तो यह है कि राग हटने से ही सच्चा सुख मिल सकता है ।

प्रार्थना मे साधक की भाषा में कवि यही कहते हैं कि मोह और राग की अंधता मे मेरी दशा बड़ी विचित्र हो रही है । मेरी दृष्टि रंगों के राग और मोह के बंध मे फंसी हुई है । मोह का बहुत बडा जाला मैंने ही बुना है और मैं ही उसमे फंस गया हूं । जैसे मकड़ी अपने मुंह से तार निकालती है और तानावाना बुन लेती है, जिसमे दूसरे कीड़े मकोडे भी फंस जाते हैं । यह मकड़ी जिस रूप मे अज्ञानी है कि अपने बनाये जाले मे खुद भी फंसती है और दूसरों को भी फंसाती है, वैसे ही मोह मे आत्मा की भी अज्ञान दशा हो होती है । वह रागी बनती है और उस राग के पीछे दुःखित भी बनती है तो विकारों का संचय भी करती है । यह राग आत्मा के वास्तविक विकास को अवरुद्ध बना देता है और उसको पतन की ओर ढकेलता है ।

साधक जब साधना की ओर मुडता है तो राग के परिताप से सन्तप्त होकर अथवा राग के पतनकारक स्वभाव को समझ कर हो मुडता है । परिताप का अनुभव करके वह रागात्मक भावो के दुष्परिणामो का अनुमान लगाता है और मोह से मुक्त होने का सत्प्रयास प्रारंभ करता है । तब वह सोचता है कि मैं भगवान् के साथ संबंध जोड़ूं, किन्तु वे तो निरागी हैं और मैं अपने राग को समाप्त नहीं कर पाया हूं तो दोनो मे संधि तभी हो सकती है जब दोनों समान प्रकृति के बनें । वीतराग ने भी पहले कुटुम्ब, वैभव आदि से अपना मोह समाप्त किया, साधना की और राग से छुटकारा पाया । राग हट गया तो कर्मबंधन मिट गया, जिसके कारण वे वीतराग बन गये । ऐसे निरागी, निर्मोही, कर्मबंधन से रहित, पवित्र स्वरूप वाले भगवान् से सम्बन्ध जोड़ना है

तो मुझे भी उनके अनुरूप अपनी अवस्था बनानी होगी । भगवान् निरागी हैं तो मुझे भी राग को छोड़ना पड़ेगा । भगवान् अनन्त सुख में विराजमान हैं तो यह इस तथ्य का प्रमाण है कि वीतराग बनने से ही उस प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है । राग है वह दुःख का कारण है । इसलिए निरागी भगवान् से सम्बन्ध जोड़ना सुख और शान्ति का स्थायी आधार बन सकेगा ।

राग हटा तो दुःख मिटा

संसार को जो दुःख से भरा हुआ बताया है तथा संसार में रहते हुए पग-पग पर जिस रूप में दुःख झेलने पडते हैं, उसका मूल कारण राग है। यदि आप गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी परमात्मा की तरफ हाथ बढ़ाते हैं तो आपको उतने अंशों में मोह को भी छोड़ना पड़ेगा । परमात्मा की तरफ हाथ नहीं बढ़ाते हैं तो पाप की तरफ हाथ बढ़ायेंगे और अनैतिकता से अपने जीवन को पतित बना लेंगे । इसलिये इस राग के घातक परिणामों को गहराई से सोचकर इसको घटाने और हटाने के उपाय करने ही चाहिये । क्योंकि यह निर्विवाद सत्य है कि राग हटेगा तो दुःख मिटेगा । राग हटे तभी आत्मा परमात्मा की ओर अग्रसर बनेगी और एक दिन स्वयं भी परमात्मा बन जायगी ।

राग के घातक परिणाम का एक छोटा सा सामाजिक उदाहरण ही लेलें । आप लोग अपने पुत्र का सम्बन्ध करना चाहते हैं तो गुणवान कन्या लाने की बात सोचते हैं या दहेज लाने की भी बात सोचते हैं ? दहेज के लिये आज क्या-क्या राक्षसी कार्य नहीं होते—यह सब आप जानते हैं तो क्या यह धन के प्रति राग का घातक परिणाम नहीं है ? इस राग के पीछे घर में महाभारत का दृश्य उपस्थित हो जाता है और जिन्दगी नरक जैसी बन जाती है, तब भी यह राग छूटता कहां है ? आपके सामने शायद ये बातें आवें या नहीं आवें, लेकिन मोह के जाले में फसे हुए भाई हम लोगों के पास आकर अपना दुःख व्यक्त करते हैं । मैं इन्दौर में था तब बड़े घर का एक लडका मेरे पास आया । उसके पिता के पास लाखों की सम्पत्ति थी, फिर भी दहेज के लालच में ऐसी लड़की के साथ उसका सम्बन्ध कर दिया, जिसकी किससे उपमा दूं—मैं साधु जो ठहरा । कहने का आशय यह है कि इस राग के जाले में जो भी फंसा, उसने अपने आप को फंसाया और दूसरों को भी फंसाया—स्वयं भी दुःखी बना तथा दूसरों को भी दुःखी किया । यह राग दुःख का मूल कारण है ।

सोचिये कि दुःख के मूल कारण को मिटाये बिना दुःख कैसे मिटेगा और दुःख नहीं मिटेगा तो सुख कहां से होगा ? राग को दूर करेंगे तभी

निरागी परमात्मा से इस आत्मा का सम्बन्ध जोड़ सकेंगे तथा अपने लिये शाश्वत सुख की सृष्टि कर सकेंगे ।

आत्म-कल्याण का चरम सोपान है वीतराग होना ।

सिद्ध अवस्था और संसारी अवस्था के मध्य में यही राग खड़ा है । जब तक राग है तब तक संसार है । आत्मा का कल्याण सिद्ध होने में है । यही आत्मकल्याण का चरम सोपान माना गया है । जब राग छूटता है, वीतरागता आती है, तभी सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है । इसलिये आत्मकल्याण का चरम सोपान है वीतराग हो जाना ।



पहले ज्ञान और फिर क्रिया

धर्म जिनेश्वर गाऊं, रंगशु.......

इस जीवन को सभी दृष्टियों से समुन्नत बनाने के लिये कुछ विशेष अनुष्ठान की आवश्यकता है। जीवन में अनेकानेक अनुष्ठानों का उल्लेख दिव्य वचनों में विद्यमान है। आगमों में आत्मकल्याण के प्रसंग से विशद विवेचन आता है। वहां आत्म-गुणों की गरिमा का महत्त्व के साथ मूल्यांकन किया गया है और तदनुसार जीवन में जितने गुणों का विकास होता है, जितनी सद् वृत्तियां पनपती हैं और आत्मस्वरूप की जितनी निर्मलता बढ़ती है, उतना ही जीवन का विकास समुन्नत बनता चला जाता है।

आत्मा का मूल स्वभाव सदा ही सच्चे सुख और शान्ति को वरण करने का होता है। वर्तमान में इस आत्मा के साथ जो दुःख और द्वन्द्व लगे हुए हैं, वे इस कारण से लगे हुए हैं कि आत्मा के गुण दब गये हैं और अवगुण प्रकट हो रहे हैं और इसी का परिणाम होता है कि इस आत्मा को संसार के बीच मे विचित्र दृश्य देखने पड़ते हैं।

इस दृष्टि से ज्ञानीजनों का एक ही संकेत है कि इस जीवन को यदि गुणों से परिपूरित बनाना है तो सबसे पहले ऐसे गुण को अपनाना चाहिये, जिस गुण के जीवन में प्रकट हो जाने पर समग्र गुण अपनी आन्तरिकता में आकर समाविष्ट हो जायें। दुनिया में कहावत है कि एकै साधे, सब सधे और सब साधे, सब जाय। एक ऐसी शक्ति साध ली जाय—उपस्थित करली जाय कि जिसके उपलब्ध हो जाने पर जीवन की समग्र शक्तियां और जीवन का परिपूर्ण

रूप प्रकाशमान बन जाय । यदि इस प्रकार की मूल शक्ति को नहीं वें और अन्यान्य शक्तियों की उपासना करते रहे तो वैसी उपासना एक दृष्टि तथा अमुक सिद्धि की दृष्टि से व्यर्थ सी बन जायगी । यह एक निर्विवाद य है कि मूल के बिना किसी भी वृक्ष पर टहनियां और पत्तियां नहीं आती —फल और फूल लगना तो दूर की बात होती है । कहा भी है—मूलं बिना तो शाखा । इसलिये जीवन के मूल की रक्षा तथा उसके समुचित विकास निमित्त से किसी ऐसे विशिष्ट अनुष्ठान को अवश्य ही अपनाया जाना चाहिये।

ान-प्राप्ति कैसी और कैसे ?

आत्म-गुणों के मूल को सुरक्षित रखने के लिये वीतराग देवों ने एक त्यन्त ही महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रदान किया है, जो इस प्रकार है—

"पढमं नाणं, तओ दया ।"

अर्थात् पहले ज्ञान और फिर दया-क्रिया । इस विशिष्ट अनुष्ठान में ले ज्ञान और फिर क्रिया का इस तरह संयोग किया जाय कि ज्ञान और या के सयुक्त प्रभाव से आत्मा के समस्त गुण प्रकट होकर जीवन को पूर्ण कास की ओर गतिमान बना दें ।

यह आवश्यक है कि सबसे पहले ज्ञान प्राप्त किया जाय । ज्ञान त करने की दृष्टि से यह प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञान किस प्रकार का हो ? न के स्वरूप को समझने के बाद ही अगर ज्ञान की उपासना की जायगी, तभी ; उपलब्ध ज्ञान आत्मगुणों के प्रकटीकरण का मूल बन सकेगा । यदि ार्थ ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को तथा उसके भेद को बिना समझे ही सिर्फ न मात्र की दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया जायगा तो वैसा ज्ञान स्थिर और स्थायी ी बन सकेगा तथा जीवन के लिये उपयोगी भी नहीं होगा । वैसे ज्ञान से त उपलब्धि तो क्या, अन्य उपलब्धियां भी प्राप्त नहीं हो सकेंगी । प्राप्त किया ाने वाला ज्ञान सम्यक् होना चाहिये ।

संसार के अन्दर सभी व्यक्ति यह चाहते हैं कि उनकी सन्तान को ान मिले और वह ज्ञानवान् बने । बच्चों को ज्ञान कराने के लिये उन्हें ठशाला और विद्यालय में भेजते हैं । यदि बच्चा जाना नहीं चाहता है तो सको उसके लिये प्रलोभन भी दिया जाता है । प्रलोभन देने पर भी वह नहीं ानता है तो उसको धमकी भी दी जाती है । इससे भी काम नहीं चलता है । उसको चांटा लगा दिया जाता है । किसी प्रकार से सरक्षक सोचते हैं कि

पढ़ने स्कूल में चला जावे और ज्ञान प्राप्त करे क्योंकि वे समझते हैं
ज्ञान के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है। लेकिन उन संरक्षकों और माता-
पिताओं को ज्ञान का स्वरूप इतना ही खयाल मे है कि बच्चा स्कूल में
अक्षर-ज्ञान कर लेगा, लौकिक विद्याओं का अध्ययन करेगा तथा तब
बनकर धन कमाने की कला में प्रवीण बन जायगा। इस ज्ञान के पीछे
भावना यही होती है कि वह इस ज्ञान के द्वारा खूब धन कमायेगा और
को सब तरह से सुखी बना देगा।

बच्चे के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के पीछे जब यह उद्देश्य रखा जाता
और स्कूलों के वातावरण से भी बच्चा प्रभावित होता है तो वैसी शिक्षा ग्र
करने के साथ जब वह धर्मस्थान पर जाता है तो माता-पिता यह नही चा
कि वह धर्मस्थान पर अधिक समय दे क्योंकि वे समझते हैं कि उससे उस
स्कूल की पढ़ाई मे हर्ज होगा। यहां यह समझ लेने की जरूरत है कि स्
में कराई जाने वाली पढ़ाई मात्र लौकिक होती है और उससे कमाना-ख
भी आवे या नहीं आवे, लेकिन उसके संस्कारों से जीवन समुन्नत बन जाय
इसकी कोई गारंटी नहीं होती है। उस पढ़ाई के साथ-साथ अगर बच्चे
बचपन मे धर्मस्थान तथा वहां की क्रियाओं से भी गहरा सम्बन्ध बनता
तो वह उसकी आध्यात्मिक पढ़ाई उसके जीवन मे सद्गुणो का विकास
सकती है। मैं कह रहा था कि बच्चे की ज्ञान प्राप्ति के लिये माता-पि
को उसकी लौकिक शिक्षा की तो चिन्ता रहती है, परन्तु वह आध्यात्मिक
प्राप्त करे तथा जीवन में सुसंस्कारों को ग्रहण करे—इस दिशा मे उनकी
चिन्ता नही रहती है। इसलिये यदि कोई बच्चा धर्मस्थान एवं धार्मिक क्रि
के प्रति आकर्षित होता है तो उसको कह देते हैं कि यह धार्मिक ज्ञान तो
में भी हो जायगा, अभी तो स्कूल की शिक्षा में कुशल बन जाओ। बच्चे
स्वयं धार्मिक क्रियाओं की तरफ आकर्षित बनाना—यह लक्ष्य तो बहुत कम म
पिताओं का रहता है। वे गहराई से यह नही सोचते हैं कि स्कूल का
केवल बाहरी वस्तुओ व उद्देश्यों का ज्ञान है—कला का ज्ञान है और
टहनियों व पत्तियों का ज्ञान है। मूल ज्ञान तो धार्मिक और आध्यात्मिक
होता है। बच्चा जब मूल ज्ञान से वंचित रहता है तो उसमे सद्गुणो की ब
दुर्गुणो का अधिक प्रवेश होने लगता है। वह स्वच्छन्द और अविनयी बन ज
है। वैसा बच्चा न तो अपने जीवन का सही निर्माण कर पाता है और
अपने परिवार या समाज को ही सुख और शान्ति दे सकता है।

इस कारण ज्ञान के स्वरूप पर गहरा विचार करने के बाद ही
प्राप्ति के प्रयास प्रारंभ किये जाने चाहिये।

ा-प्रदायी ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है

नीतिकारों ने सच्चे ज्ञान का लक्षण उसके फल के आधार पर बताया : सच्चा ज्ञान वही है, जिससे विनय का गुण प्राप्त होता है। धार्मिक या ात्मिक ज्ञान जब बालक को दिया जाता है, तो उससे सबसे पहले वह विनय- बनता है। इस ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि—

"विद्या ददाति विनयं............"

अर्थात् विद्या से विनय प्राप्त होता है। जिस विद्या में विनय और ासन उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है, वह वास्तविक विद्या नहीं है। विद्या विक रूप में आई है तो नम्रता अवश्यमेव आयेगी। विनय के बाद ही ; में पात्रता या योग्यता आती है। पात्रता का तात्पर्य व्यक्ति की समूची ता से लिया जाता है। पात्र वैसे बर्तन को कहा जाता है। बर्तन में अच्छी भी भरी जाती है और बुरी वस्तु भी—लेकिन कुछ भी वस्तु भरें, उसके पात्र तो होना ही चाहिये। पात्रता को ग्रहण करने और रखने की योग्यता । मे ले सकते हैं। श्रेष्ठ विद्या से यह पात्रता श्रेष्ठता के रूप मे ही विक- होती है। श्रेष्ठ पात्रता से श्रेष्ठता ही ग्रहण की जाती है। जीवन में श्रेष्ठ पात्रता रहती है तो चाहे वह किसी भी क्षेत्र मे कार्यरत हो, सभी वह श्रेष्ठ उपलब्धियां ही प्राप्त करेगा। संसार के क्षेत्र में वह नीति से उपार्जित करेगा तथा धार्मिक क्षेत्र में वह आत्मगुणों का उपार्जन करेगा। ान से भी धर्म को उपार्जित करेगा। यह सब विनय गुण की विशेषता है।

जहां विनय गुण विकसित हो जाता है तो वहां धर्म का मूल प्रति- हो जाता है, क्योंकि विनय को धर्म का मूल माना गया है। "विणयो म्ब मूल"—यह शास्त्र का वाक्य है। धर्म मे जीवन का सब कुछ समा- रहता है। इसमे धन, दया, संयम आदि सब का समावेश है। धन से धर्म किया जाता है तो उससे भी सुख की प्राप्ति होती है। धन से धर्म का तात्पर्य यह है कि धन की दृष्टि से एक व्यक्ति अपने जीवन व्यवहार शरीर संचालन को सुव्यवस्थित रख सकता है। संसार के व्यवहार को ने तथा धन का उपार्जन करने के लिये धर्म करणी करने का मुख्य माध्यम र होता है। इसलिये यह शरीर भी एक तरह से धर्म है—धन है। मन, भी एक तरह का धन है क्योंकि मन, वचन और काया के धन से धर्म पर्जन किया जा सकता है। धन से धर्म और धर्म से धन—यह गृहस्थ-

जीवन की आदर्श स्थिति हो सकती है। धन की सुव्यवस्था के साथ धर्म उपार्जन किया जाय तो आत्मा को सच्ची सुख-शान्ति मिल सकेगी।
इसके मूल मे विनय गुण की उपलब्धि आवश्यक है। विनय मूल है और सब जीवन-वृक्ष के फल फूल होते हैं। किन्तु इस विनय का भी मूल है सम्यक् ज्ञान। इसी कारण कहा गया है कि पहले ज्ञान की उपलब्धि ताकि उस सम्यक् ज्ञान के आधार पर सम्पूर्ण जीवन को पल्लवित एवं पु बनाया जा सके।

ज्ञान अन्दर में फैलने वाला वह मूल होता है जो सारे जीवन को मजबूती से टिकाये ही नही रखता, बल्कि उसको फलदायी भी बनाता ज्ञान जब भीतर में होता है तो वह समस्त क्रियाओं को सुन्दरतम प्रदान करता है।

ज्ञान के आवरणों को हटावें; ज्ञान की आराधना करें

कार्तिक शुक्ला पंचमी का प्रसग आता है तो भाई बहिन इस को भी मनाते हैं। कई उपवास किया करते हैं। उनकी भावना रहती कि ज्ञान पंचमी के दिन उपवास करेंगे तो ज्ञान की प्राप्ति होगी। उपवास अच्छी बात है लेकिन ज्ञान की आराधना किस प्रकार की जाय—इसक उन्हे ज्ञान करना चाहिये।

ज्ञान की वास्तविक आराधना करेंगे तो अवश्य ही ज्ञान प्राप्त तथा ज्ञानपूर्वक आचरण करने से समग्र जीवन सुखपूर्ण बन सकेगा। ज्ञान आराधना तभी सफल बनेगी, जब पहले इसके आवरणों को हटा दिया ज तथा आवरण आने के अवसरों को भी रोक दिया जायगा। ज्ञान प्राप्ति जो आवरण लगाते हैं, उन कर्मों को ज्ञानावरणीय कर्म कहते है। आत्मा ज्ञान शक्ति पर यह कर्मों का जो आवरण आ जाता है, उसको तोड़ना प्र भव्य का कर्त्तव्य है लेकिन देखना यह है कि क्या उपवास करने और उप में कुछ जाप करने मात्र से ज्ञान का आवरण टूट जायगा? टूट भी सकत और नही भी टूट सकता है—यह आन्तरिक उत्कट भावना पर निर्भर है लेकिन इसके साथ ज्ञान की विशिष्ट आराधना याने अध्ययन मनन आदि अनिवार्य मानें।

ज्ञान के आवरण को पैदा करने वाले जो कारण हैं, उन का को यदि रोक दिया जाय और फिर ज्ञान की उपासना की जाय तो अवश्य

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होगा तथा ज्ञान की शक्ति प्रकट होगी। यदि ज्ञान को ढकने वाला निमित्त कायम रहा और उसके रहते ज्ञान की आराधना की तो वांछित रीति से सफलता नहीं मिल सकेगी। ज्ञानावरणीय कर्म का बंध कराने वाले कारणों को समझें नहीं और उपवास भी करें, 'णमो णाणस्स' या 'ओम् ह्रीं श्री' आदि शब्द जोड़ कर जाप करें तथा ज्ञानाराधना के रहस्य को न जान पाए तो ऐसा उपवास और जाप भी अज्ञान बढ़ाने का निमित्त बन जाता है, क्योंकि सच्चे ज्ञान की आशातना करें तो भी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हो जाता है। ज्ञान की आशातना का अर्थ होता है—सम्यक् ज्ञान के प्रति अरुचि रखना। रुचि का अभाव भी अरुचि का ही एक प्रकार होता है। अब आप अपने बाल बच्चों को धार्मिक ज्ञान सिखाने के प्रति रुचि नहीं रखते हैं तो सोचिये कि इससे ज्ञान की आशातना होती है या नहीं?

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि छोटी मोटी पाटियां भी सीखने के लिये कई भाई बहिन बैठते हैं तो वे पाटियां उनको याद नहीं होती हैं। वे कहने लगते हैं कि माथा ही काम नहीं करता है। व्यापार धंधे की बात हो या राग द्वेष की बात हो तब वह बात तो आप कभी भी भूलते नहीं हैं, फिर क्या कारण है कि ज्ञान की ही बात को भूलते रहते हैं? इसमे स्पष्ट रूप से रुचि का अभाव दिखाई देता है। जब ज्ञान की आराधना करने के समय ही ज्ञान की आशातना मन में है तो भला वह आराधना कैसे सफल हो सकेगी?

बिन जिज्ञासा ज्ञान कहां?

ज्ञानार्जन तो ऊंची बात है लेकिन रुचि के अभाव में कोई कार्य सफल नही हो सकता है। ज्ञानार्जन मे तो उग्र रुचि की आवश्यकता होती है। इसी उग्र रुचि को जिज्ञासा कहते है। जिज्ञासा के बिना ज्ञान कहा मिलता है? आपके घर मे कोई विशिष्ट पुरुष आवे और आप उसके प्रति सत्कार-सम्मान नही दिखावें तो क्या वह आपके घर पर रुकेगा? वह आपकी आंख को देखकर चला जायेगा। कदाचित् ज्ञान रूपी-विशिष्ट पुरुष आपके जीवन मे प्रकट भी होना चाहे, लेकिन आपकी अरुचि रहे तो क्या वह टिक सकेगा? फिर चाहे आप उपवास करें या किन्ही मत्रो का जाप करें, तब भी उस ज्ञान की कृपा संभव नही हो सकेगी। रुचि की शुद्धता एवं तीव्रता होती है तो ज्ञान की आराधना अवश्य ही फलीभूत होती है।

ज्ञान के प्रति अरुचि के अलावा ज्ञान की आशातना क्या होती है? जो सच्चा ज्ञानी होता है, वह हिताहित का विवेक रखता है तथा सच्चे आत्मसुख

को प्राप्त करने की विधि को जानता है। ऐसे सद्ज्ञानी की अवज्ञा की जाय तो वह भी ज्ञान की आशातना है। हकीकत में ऐसे सारे कार्यों में ज्ञान के प्रति सच्ची रुचि का अभाव प्रकट होता है। किसी भी रूप में जब ज्ञान की आशातना होती है तो उससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हो जाता है। ज्ञान पर आवरण चढते हैं तो वे आवरण अवश्य ही उसके विकास एवं प्रसार को अवरुद्ध करते है। कोई सोचे कि अभी तो ज्ञान की आशातना की और कर्म का बंधन हुआ, फिर तुरन्त ही ज्ञान का विकास अवरुद्ध कैसे हो जाता है ? कर्म बंधन और अवरोध का पूर्व से क्रम चलता रहता है, फिर भी तत्काल परिणाम प्रकट होने में भी कोई आश्चर्य की बात नही है। कोई अभी जहर ले लेगा तो क्या उसका तत्काल परिणाम प्रकट नही हो जायगा ? सद्ज्ञान या सद्ज्ञानी की अवज्ञा और उनका अनादर ऐसे ही मारक विष के समान होता है।

ज्ञानावरणीय अथवा किसी भी अन्य कर्म का बंधन ज्ञानी को भी हो सकता है और अज्ञानी को भी होता है। जैसा कार्य किया जायगा, उसके अनुसार फल होगा। विष को जानने वाला विष लेगा तो भी वही परिणाम सामने आयेगा और नही जानने वाला भूल से उसी विष को ले लेगा, तब भी वही परिणाम निकलेगा। भगवान् महावीर तीर्थंकर थे और उन्होने सर्वोच्च ज्ञान केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद जो ज्ञान संसार को दिया, वह अपने आप में अनुपम है और वह सन्देश है–" पहले ज्ञान और फिर दया। " ज्ञान को उन्होने ऐसा विशिष्ट महत्व प्रदान किया है। इसलिए ज्ञान के प्रति पूर्ण रुचि जगाई जानी चाहिये।

'पढमं नाणं, तओ दया' और 'णमो णाणस्स'

भगवान् महावीर ने कहा–सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त करो। 'णाणं' प्राकृत भाषा में ज्ञान को कहते हैं। उन्होंने ज्ञान के पांच भेद बतलाए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान। और अज्ञान के तीन भेद बतलाए। केवल ज्ञान से बढकर और कोई ज्ञान नहीं है। इस के साथ ही 'णमो णाणस्स' का अर्थ है कि मैं ज्ञान को नमस्कार करता हूं। नमस्कार करना है, उसका तात्पर्य है कि जो सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है उसको अपने जीवन में उतारना याने कि उस ज्ञान के अनुरूप अपने आचरण को ढाल लेना। आप ज्ञान को नमस्कार करते हैं तो उसके पीछे दो तीन विशेषण लगा देते हैं– ओम् ह्री श्री, तो क्या आपको भगवान् द्वारा बताए हुए ज्ञान में कोई कमी दिखाई दी है ? क्या आप सोचते हैं कि ये विशेषण नहीं लगायेंगे तो ज्ञान

अधूरा रह जायगा ? क्या आप ये विशेषण लगा कर नकल तो नहीं कर रहे हैं ? ऐसे विशेषण नकल से और बिना अकल से लगा कर क्या आप उन ज्ञानियों का अपमान और ज्ञान की आशातना नहीं कर रहे हैं ? मेरे कहने का आशय यह है कि केवलज्ञानियो ने जो कुछ ज्ञान दिया है, वह ज्ञान पूर्ण है तथा उस-मे अपनी ओर से कोई घट बढ़ नही की जानी चाहिये । केवलज्ञानियों ने जो शब्द बताये हैं, उनके बाद आप और शब्द छोड़ते हैं तो क्या यह अज्ञानतावश किया जा रहा कार्य नही है ? उधर से हवा आई और आप जगह से हट जाओ तो फिर आस्था की दृढ़ता क्या हुई ? यह तो इस लोक की कामनाओं में फस जाना हुआ । चल विचल मत वाले, अधूरे खयालो वाले, इस लोक की भौतिक कामनाओं वाले या अपनी अह वृत्ति का पोषण करने वाले मूल शब्दों के साथ जो शब्द अपनी तरफ से जोड़ देते है, वह अज्ञानपूर्ण चेष्टा है । इससे ज्ञान और ज्ञानियों की आशातना होती है । यह ज्ञानावरणीय कर्म बांधने का कार्य है । इसलिये ज्ञान पंचमी की आराधना विधिपूर्वक करें ।

मैं लाग-लपेट से बात करना नहीं चाहता हूं। मैं भी ज्ञान की उपासना करने के लिये साधु बना हूं, इसलिये और तरह की बात कहूंगा तो अपने कर्त्तव्य का पालन नही करूंगा । समझिये कि आपने बच्चे को कहा—जा अमुक काम करके आ । उस काम के लिये आपने कुछ शब्द कहे। उन शब्दों के बारे मे बाद में आप बच्चे को पूछते हैं तो वह बता देता है कि उसने आपने कहा वैसे ही काम कर दिया है । बच्चा आपकी आज्ञा का पालन करता है, आपकी अवज्ञा नहीं करता है । आप भी जो तीर्थंकरों ने कहा है, उसको शुद्ध रूप में समझो और शुद्ध रूप मे रखो । उस वाणी के साथ कुछ और जोड़कर उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिये । उदाहरण के तौर पर आप समझ लीजिये कि एक बच्चा धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ स्कूल का अध्ययन भी विनय के साथ कर रहा है, लेकिन माता देखती है कि वह तो पुस्तकों का कीड़ा बन गया है और मेरे घर का काम नहीं करता है। वह उसको घर का कोई काम देती है तो बच्चा विनयपूर्वक कहता है—यह काम तो छोटा भाई भी कर देगा, आप मुझे पढ़ने दीजिये । माता गुस्सा होकर उसकी पुस्तक छीन लेती है तो इस कार्य से माता के ज्ञानावरणीय कर्मों का बंध हो जाता है । ज्ञाना-वरणीय कर्म बधने के विभिन्न कारणो का उल्लेख शास्त्रो मे आया है । जो व्यक्ति इनका खयाल रखता है और इनसे बचता है तो वह ज्ञान का विनय करता है तथा ज्ञान के स्वरूप को सही रूप मे समझकर चलता है ।

ज्ञान के प्रति विनय कैसे होना चाहिये ?

कभी-कभी भाई बहिन सोचते हैं कि किसी पुस्तक के ठोकर लग गई तो वे उस पुस्तक को उठाकर नमस्कार कर लेते हैं। क्या पुस्तक कुछ समझती है या क्या पुस्तक ज्ञान है ? पुस्तक में तो सिर्फ छपे हुए अक्षर होते हैं, फिर पुस्तक को नमस्कार करने की क्या आवश्यकता है ? नमस्कार करिये उस ज्ञानी को जिसने पुस्तक लिखी है या जिसके पास में वह है। वे चैतन्य हैं, उनकी तो आशातना की जाती है और जड़ को नमस्कार किया जाता है—यह कैसी मनोवृत्ति है ? यह मनोवृत्ति ज्ञानपूर्ण नहीं है। ज्ञान के प्रति विनय किस रूप मे प्रकट होना चाहिये—इसको गंभीरता से समझ लेना चाहिये।

ध्यान रखिये कि जिनकी वह पुस्तक है, उनकी आशातना हुई तो उनकी मदद करनी चाहिये। उनसे कहना चाहिये कि मैं तो अपना काम करता हूं और तुम दिन रात ज्ञानार्जन कर रहे हो तो मैं तुम्हे मदद देता हूं। यदि इस प्रकार ज्ञान में मदद देंगे तो आप ज्ञानावरणीय कर्मों को तोड़ेंगे। जितने ये कर्म कोरी माला फेरने से नहीं टूटते हैं, उससे कई गुना ये व्यावहारिक कार्य करने से टूटते हैं—इसको न भूलें। यह अपने-अपने क्षेत्र की बात है। सन्त-जीवन में भी वही बात है और साध्वी वर्ग में भी वही बात है। यदि एक सन्त ज्ञान ध्यान मे लग रहा है और दूसरा साधक यह सोचे कि इसको कुछ काम देदूं वरना इस तरह अपना ज्ञान बढ़ा लेगा तो वह आगे बढ़ जायगा। सेवा और दिनचर्या की बातें तो दूसरी है, वरना इस भावना से किसी के ज्ञानार्जन में बाधा डाली जाती है तो वह भी ज्ञानावरणीय कर्म के बंध का कारण बनता है। ज्ञान लेने वाले को भी अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार चलना चाहिये।

जहां ज्ञान की स्थिति का प्रसंग है, वहां ज्ञान-प्राप्ति की भावना रखते हुए भी विनय का भाव पहले रखना चाहिये। ज्ञानार्जन मे किसी भी रूप में बाधा डालने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है तथा ज्ञानार्जन मे मुक्त सहयोग देने से इस कर्म को क्षय किया जाता है।

आप चिंतन करें और आज से ही संकल्प लें कि आप स्वयं सदा नये से नया ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा रखेंगे तथा एक ओर ज्ञानार्जन में बाधा नहीं डालेंगे एवं दूसरी ओर ज्ञानार्जन कोई भी कर रहा हो, उसमें अपना सम्पूर्ण सहयोग देने के लिये सदा तत्पर रहेंगे। किसी भी ज्ञानी से जिज्ञासा-वश कुछ भी पूछिये मगर विनयपूर्वक पूछिये। इस अहंकार के साथ न पूछें

कि मैं तो बड़ा विद्वान् हूं, देखूं कि इनको कितना ज्ञान है ? यह अहंकार भी अज्ञान होता है, क्योंकि जो केवल ज्ञानियों को ज्ञान था, उससे बढ़कर क्या किसी अन्य का ज्ञान हो सकता है ? और ज्ञानी भी वही है जो केवल ज्ञानियों के ही ज्ञान पर चिंतन-मनन करता है तथा उसी को दूसरे जिज्ञासुओं को बताता है । ज्ञान के प्रति सच्चा विनय होना चाहिये ।

ज्ञान की उपासना में पुरुषार्थ की महत्ता—

ज्ञानार्जन करने की भावना होने के बावजूद कई बार ज्ञान चढ़ता नही है तो यह ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो सकता है लेकिन निरन्तर पुरुषार्थ करने से कर्म टूटता रहता है और अन्ततोगत्वा ज्ञान की उपासना सफल बनती है । यह निःसंकोच पुरुषार्थ ज्ञानावरणीय कर्म को तोड़ने का मूल मन्त्र है कि कोई भी अपने प्रयत्न की निन्दा करे या उसके प्रति रोष करे, तब भी विनय के साथ अध्ययन रत रहना और ज्ञान सम्पन्न बन कर बता देना कि पुरुषार्थ मे कितना सामर्थ्य है ।

"णमो णाणस्स" की माला फेरेंगे, लेकिन उसके साथ याद रखिये कि ज्ञानावरणीय कर्म को तोड़ना है और इसके लिये यह संकल्प लीजिये कि कोई अपनी प्रशंसा करे तो प्रसन्न नही होवें और कोई निन्दा करे तो आप रोष नहीं करें । इस रूप मे भी ज्ञानावरणीय कर्म टूटते हैं तो ज्ञान का विकास होगा तथा उसके साथ-साथ जीवन का विकास होगा ।

मैं ज्ञान की बात कह रहा हूं । ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक बाह्य पदार्थों का ज्ञान और दूसरा भीतरी आत्मा का ज्ञान । भीतरी ज्ञान का विकास किया गया तो बाहरी ज्ञान तो अपने आप आ जायगा । यदि आत्मा के ज्ञान की उपेक्षा कर दी तो बाहर का ज्ञान किसी काम मे नहीं आयगा । गृहस्थाश्रम मे रहते हैं तो लौकिक ज्ञान की आप को आवश्यकता रहती है वह आप लें लेकिन उसके साथ आत्मज्ञान को अवश्य ही सम्बद्ध रखें और यदि ऐसा करेंगे तो आपका समस्त आचरण नीतिपूर्ण और धर्ममय रहेगा । वास्तविक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही होता है और उससे प्रति क्षण यथार्थ रूप मे हिताहित का विवेक रहता है । उससे यह भी ध्यान रहता है कि क्या जानने लायक, क्या त्यागने लायक और क्या ग्रहण करने लायक है ? इसके साथ ही ज्ञानार्जन के प्रति अत्यधिक रुचि रहनी चाहिये क्योंकि रुचि से लगन बनती है और लगन से ज्ञान की उपासना के प्रति पूर्ण रूप मे पुरुषार्थ हो सकता है । ज्ञान की आराधना के साथ पुरुषार्थ का संयोग रहेगा तो वह आराधना कभी भी अधूरी नहीं रहेगी ।

मन-मधुकर और पद-पंकज

धर्म जिनेश्वर गाऊं, रंगसुं.......

मनुष्य जीवन में अनेक प्रकार की परिस्थितियां सामने आती हैं गुजर जाती हैं। चलचित्र की तरह मन का पटल बदलता रहता है लेकिन मन मे शुभता का अनुसंधान दृढ़ता के साथ जुड़ जाता है तो उस को शु के मार्ग की लगन लग जाती है। वह शुभता उसकी समस्त वृत्तियों एव त्तियों में घुल मिलकर उसके समस्त जीवन को शुभ से शुभतर तथा शु से शुभतम की दिशा में आगे से आगे बढ़ाती रहती है।

जो सर्वभावेन शुभ है, उसको इस मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण मानकर चलिये। शुभ से शुभतर मानव को देवत्व की तरफ ले जाता है शुभतम परमात्म—स्वरूप का ही प्रतीक होता है। जहा शुभतम की अवस्था वह परमात्मा की परम अवस्था है। परमात्मा के इस शुभतम स्वरूप का चिन्तन करता है और उसकी आन्तरिकता से तन्मय बन जाता है, वह अपने जीवन का उच्चतम एव उत्कृष्टतम साध लेता है।

मधुकर की प्रीति पंकज के प्रति :

मधुकर भंवरे को कहते हैं और पंकज का अर्थ होता है कम भंवरे के कमल के लिये प्रेम का उदाहरण योग्य माना गया है। भंवरा कमल पंखुड़ियों के प्रति अत्यन्त मुग्ध और आसक्त होता है। कवि ने प्रार्थना पक्तियों में भंवरे और कमल की उपमा से मन को उसी तल्लीनता से भग के प्रति लगाने का इस रूप में संकेत दिया है कि—

मन मधुकर वर कर जोड़ी कहे,
पद—पंकज निकट निवास ।
घननामी आनन्दघन सांभलो,
ए सेवक अरदास ॥

भंवरे की प्रीति कमल के साथ इतनी गाढ़ी होती है कि वह अपनी [illegible]ता और आसक्ति में पराग का आस्वादन करता हुआ कमल के बीच में [illegible]द हो जाता है, लेकिन अपनी मृत्यु के भय को भी नहीं देखता है । इस [illegible]न्ध मे कवियों ने अपने काव्य मे मधुकर की बहुतेरी विशेषताएं बताई हैं । [illegible]रा कमल के खिल जाने पर उसकी पंखुड़ियों के बीच में प्रवेश करके वहीं [illegible]र जाता है और पराग का रसास्वादन करता है। वह उसमें इतना मदमस्त [illegible] जाता है कि उसको वहां से निकल जाने की सुध ही नहीं रहती है । इतने [illegible] सूर्यास्त का समय हो जाता है, तब खिला हुआ कमल मुकुलित हो जाता [illegible]—बन्द हो जाता है । कवियों की भाषा मे वह कमल जब बन्द होने लगा [illegible] किसी ने भवरे से कहा—पागल भंवरे, तू उड़ जा । यह कमल बन्द हो [illegible]ा है, अगर तू नहीं उड़ा तो इसमे बन्द हो जायगा और अपने जीवन से [illegible]थ धो बैठेगा । लेकिन भंवरा कमल की आसक्ति में सराबोर होता है—अपनी [illegible]ति से कतई विमुख होने को तैयार नहीं होता है । वह यही सोचता है कि [illegible] कैसे छोड़ूं । बन्द होता है तो हो जाने दो—फिर से सवेरा होगा और [illegible]र से कमल खिल जायगा । जो भंवरा कठोर से कठोर काष्ठ को छेद देता [illegible] वही कमल की कोमल पंखुडियो को छेद नहीं पाता है और बन्द हो रहे [illegible]मल में बन्द हो जाता है । वह बन्द है, रात गुजर रही है, लेकिन उसको [illegible]ोई भान नही रहता—उसकी प्रीति तल्लीनता की पराकाष्ठा के रूप में दिखाई [illegible]ती है । लेकिन प्रीति को कब बलिदान नही देना पड़ा है ? रात्रिकाल मे [illegible]थी हथिनियां सरोवर पर पानी पीने के लिये आते हैं । उनमे से कोई खेल-[illegible]ल में अपनी सूंड से कमल नाल को तोड देता है और कमल के फूल को [illegible]चल डालता है । तब हाथी के पैर के नीचे कमल ही नहीं रौंदा जाता है, [illegible]ल्कि कमल का प्रेमी भंवरा भी अपने प्राणों को खो देता है । इसी अवस्था [illegible]ो देखकर किसी कवि ने कहा है—

रात्रि गमिष्यति, भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगतेद्विरेफे,
हा ! हन्त-हन्त! नलिनीं गज उज्जहार ॥

भंवरे की प्रीति की विशेषता यह मानी जाती है कि वह मृत्यु के भय से भी मुक्त रहता है। मृत्यु के भय को भी वह एक किनारे पर रख देता है और कमल के साथ एकनिष्ठ बन जाता है । वह भंवरा अर्थात् मधुकर अज्ञानी होता है—समझता नहीं है । केवल सुगंध के लोभ में अपनी जीवन लीला को समाप्त कर देता है ।

इस मधुकर का रूप मन का मान लें और पंकज हों प्रभु के पद चरण, तब क्या भंवरे जैसी प्रीति प्रभु के पद-पंकज से हो सकेगी ? वैसी ही एकनिष्ठा और वैसी ही प्राणपण से प्रीति करने की वृत्ति । मधुकर की उपमा के समान मनुष्य अपने मन को बनाले तो प्रभु की प्रीति का प्राप्त अवश्य पा सकता है ।

भंवरे की मदोन्मत्तता का दूसरा पक्ष

भंवरे की इस वृत्ति को दूसरे पक्ष से देखें तो यह कहा जायगा भंवरे की उस रागात्मकता एवं आसक्ति के समान यदि मनुष्य का मन भी संसार के विषय-भोगों में फंस जाय और निजत्व के भान को भी भुलादे तो वह एकाग्र नहीं बन सकता है । भोगों की लोलुपता में पड़कर वह मन श्रेष्ठ भाव से वंचित हो जाता है तथा भयभ्रान्त सा बना रहता है। उसमें कई तरह के भय की स्थिति रहती है । इसके अलावा वैसा मन प्रमादी भी बन जाता है।

यह भंवरे की मदोन्मत्तता का पक्ष है कि वह कमल के पराग के मद से प्रमादी भी हो जाता है । प्रमाद का अर्थ केवल आलस्य ही नहीं होता है। शास्त्रकारों ने प्रमाद का अर्थ मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि विकारों के रूप में लिया है । किसी भी विकारी भाव से वह ग्रस्त है या विकारी वस्तु का सेवन करता है तो वैसा व्यक्ति भी प्रमादी ही कहलायगा । विषय सेवन भी प्रमाद ही है ।

मद के दो भेद किये गये हैं । एक द्रव्य मद तथा दूसरा भाव मद। मदिरा आदि के द्रव्य मद से तो फिर भी कई व्यक्ति बच जाते हैं, लेकिन अधिकांश व्यक्ति भाव मद में डूबे हुए मिलेंगे। भाव मद की दृष्टि से मद आठ प्रकार का होता है, यथा जाति का मद, कुल का मद, बल का मद, रूप मद, तप मद, श्रुत मद, लाभ मद, ऐश्वर्य मद । मैं अमुक जाति या कुल का हूं इसलिये श्रेष्ठ हूं और दूसरा मेरी जाति या कुल का नहीं होने से मुझसे नीचा है—ऐसा अभिमान जो जाति व कुल की दृष्टि से करता है, उसकी वह प्रवृत्ति

मदोन्मत्तता की अवस्था होती है। अभिमान जब अपने मन में होता है तो दूसरों के प्रति घृणा, ग्लानि और तिरस्कार के भाव बन जाते हैं। जाति एवं कुल के मद में डूबा हुआ व्यक्ति दुर्व्यवहारी भी हो जाता है। दूसरों को नीचा समझकर हकीकत मे वही नीच वृत्ति का बनता जाता है। बल का मद-मद के साथ बल दूसरों की रक्षा या सहायता करने वाला न रहकर दूसरों को दबाने या अन्याय करने वाला बन जाता है। रूप का मद-मैं, कैसी रूप सम्पदा से युक्त हूं। मेरे समान दूसरा कोई रूपवान् नही। और तो और, तप का भी मद पैदा हो सकता है। एक तपस्वी साधु है, घोर तपस्या करता है तथा आड़ा आसन करके नीद भी नहीं लेता, लेकिन उसके मन मे ऐसा अभिमान आ जाय कि उसके बराबर तपस्वी कौन है तो वह तप का मद हो जाता है। बुद्धि और विद्या का भी किसी को मद हो सकता है कि मेरे समान बुद्धिशाली और विद्वान् दूसरा कोई नही है। लाभ का मद-जिस व्यक्ति को हर कार्य मे लाभ ही लाभ प्राप्त हो और उसका उसे अभिमान हो जाय कि मेरे सदृश लाभ प्राप्त करने वाला कोई नहीं है। इसी तरह ऐश्वर्य-सम्पत्ति का मद-संसार में सबसे ज्यादा सम्पत्ति का मालिक मैं ही हूं, अन्य नही।

ज्ञानीजन कहते हैं कि जो किसी भी प्रकार की शक्ति का मद करता है, वह प्रमादी हो जाता है। इन ज्ञानीजनो ने किसी पर भी मेहरबानी नहीं रखी है और ऐसे तपस्वी के विकार को भी पकड कर उसे प्रमादी बता दिया है। मुख्य बात होती है मन की विचारणा और वह विचारणा यदि विकृत हो जाती है तो साधी गई साधना भी विकृत हो जाती है। कडाह भर दूध को बिगाडने के लिये नीबू की कुछ बूंदें ही पर्याप्त होती हैं। घोर तपस्या में मद का छोटा सा विकार सारी तपस्या को कलुषित कर देता है। भंवरा भी तो मद के मोह में पड़कर कमल के स्पर्श को छोड़ नही पाता है और कमल बन्द हो जाता है। उसी मोह मे उसकी काष्ठ को छेद देने की शक्ति भी इतनी शिथिल हो जाती है कि वह कमल की कोमल पखुडियों को छेदकर भी बाहर नही निकल पाता है। यह भंवरे की मदोन्मत्तता का-उसकी रागात्मकता का दूसरा पक्ष है। इसकी उपमा के साथ भी मनुष्य के मन का विश्लेषण किया जा सकता है।

मद से प्रमाद तो समर्पण से समुन्नति

मधुकर-वृत्ति के ये दो पक्ष हो गये कि विकार की दृष्टि से उसकी मदोन्मत्तता का विश्लेषण करें तो वह मनुष्य के विकारी मन का विश्लेषण हो

जायगा और उसकी एकनिष्ठ प्रीति का पक्ष लें तो वह परमात्मा के चरणों में समर्पित मन का स्वरूप हो जायगा। मद से प्रमाद बढ़ता है और प्रमाद ही आत्मा के पतन का प्रधान कारण होता है। दूसरी ओर जहां मनुष्य के मन में समर्पण का भाव प्रबल और प्रमुख बन जाता है, वहां उसकी आत्मिक समुन्नति का महाद्वार भी खुल जाता है।

महावीर प्रभु ने कहा है कि मन की चंचलता घोर तपस्या को भी गला सकती है और वैसा व्यक्ति भयाक्रान्त बन जाता है—

"प्रमत्तस्य भयं, अप्रमत्तस्य कुतो भयं।"

जो प्रमादी होता है, उसको चारों ओर से भय घेरे रहते हैं। केवल अप्रमत्त अवस्था ही ऐसी होती है, जब किसी प्रकार का भय नही रहता है। वीतराग देव ने इस रूप में कितना बड़ा सत्य जगत् के सामने रख दिया है। इस उपदेश का कितना बडा महत्त्व है और इसको यदि जीवन के आचरण में उतारें तो इस जीवन में कैसी अद्भुत निर्भीकता उत्पन्न हो सकती है। ऐसा गुणात्मक उपदेश किसी अन्य मत में नहीं मिल सकता है। यह ज्ञान मनोदशा के सूक्ष्म विश्लेषण से ही विदित होता है कि मद करने वाला प्रमादी है और प्रमादी सदा भयाक्रान्त रहता है। समझिये कि एक साधु है जो बहुत बडा विद्वान् भी है। वह तर्क की शक्ति भी रखता है तथा चर्चा में किसी को पराजित भी कर सकता है, लेकिन उसकी उस योग्यता का यदि उसके मन में अभिमान का मद छा गया है तो वह साधु भी प्रमादी ही कहलायगा। वह प्रमाद में सोया हुआ है और अपनी आत्मा के निजत्व को भूला हुआ है। ऐसी आत्मविस्मृति में जो भी डूब जाता है, वह नाना प्रकार के भयों से ग्रस्त बन जाता है।

जब मन की चंचलता मिटती है, उसकी विकारों से निवृत्ति होती है तथा उसका मद झर जाता है, तभी उसका प्रमाद दूर होता है। प्रमाद के दूर होने से ही आत्मा को सभी प्रकार के भयों से मुक्ति मिल सकती है। इस प्रमाद को दूर करने का संकल्प वही व्यक्ति ले सकता है, जो यह सोच लेता है कि मुझे भगवान् के बताये हुए मार्ग पर चलना है और परमात्मा के पद-पंकजों में मधुकर की सी प्रीति में रंग जाना है। इस रूप में जब मन की चंचलता मिटती है तो मन को दिव्य शक्ति प्राप्त हो जाती है और उस प्रकार का जीवन एक विशिष्ट जीवन हो जाता है।

मधुकर का कमल की सुगन्ध के प्रति एक जो भाव-विभोर समर्पण

है, ऐसा समर्पण यदि मनुष्य के मन का परमात्मा के पदों में हो जाता है तो उसकी समुन्नति सुनिश्चित बन जाती है ।

परमात्मा के पद कौनसे ?

यह मन-मधुकर अगर परमात्मा के पद-पंकजों से एकनिष्ठ प्रीति कर ले—अपने समग्र जीवन को समर्पित कर दे तो उसके अपूर्व आत्मानन्द का रसास्वादन भी वह कर सकता है । परमात्मा के पदों या चरणो की जो बात है, उनका आशय किसी मूर्ति के चरणों से नहीं है । परमात्मा तो सिद्धावस्था मे निराकार रूप होते हैं, उनके कोई दृश्य चरण दुनिया के सामने नही होते हैं । यहां जो उनके चरणों का सकेत है, वह उनके भाव चरणो के प्रति है। इस रूप में उनके दो चरण हैं—एक श्रुत धर्म का चरण तथा दूसरा चारित्र्य धर्म का चरण । इसको यो कहें कि एक ज्ञान का चरण तथा दूसरा क्रिया का चरण। और जब इन दोनों को कोई भावपूर्वक ग्रहण कर लेता है तो ज्ञान और क्रिया की संयुक्त शक्ति से आत्मा का विकास सहज बन जाता है ।

परमात्मा के इन दोनों पदों मे जो सर्वथाभावेन समर्पित हो जाता है, वह अपने जीवन-विकास को प्रशस्त बना लेता है । यहां समर्पण का तात्पर्य अपने दिमाग को या अपनी आंखों को बन्द कर देना नहीं है और न ही अपनी चेतना को बेच देना है । समर्पण का अर्थ है अपने को शुभतर लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में सक्रिय कर लेना तथा आत्मस्वरूप को निखारने मे लग जाना। समर्पण भी तभी होता है जब सम्यक् ज्ञान का उदय होता है तथा उसके प्रकाश मे सम्यक् चारित्र की सुदृढ पृष्ठभूमि बन जाती है । सम्यक्त्व से आत्मस्वरूप इतना ओतप्रोत हो जाता है कि वह तेजी से समत्व की ओर प्रगति करता है । समत्व की समरसता जिसके जीवन को सुगन्धित बना देती है, उसके मन मे इस सुगध के अलावा और कोई गध नही आती है, बल्कि उसके मन की वह सुगन्ध बाहर भी चारों ओर फैल कर सारे वातावरण को सुगन्धित बना देती है ।

जैसे भवरे को कमल की पखुड़ियों के बीच में पराग की सुगध के अतिरिक्त दूसरी कोई भी गंध पसन्द नही पड़ती है, वैसे ही मन रूपी मधुकर की तल्लीनता परमात्मा के दोनों पद-पकजो मे लग जाती है तो वह फिर उन से किसी भी प्रकार दूर नहीं होना चाहता है। श्रुत और चारित्र्य धर्म के पराग में वह अनुरंजित होकर एकनिष्ठ बन जाता है । इस एकनिष्ठता के बाद उस

मन के लिये न तो किसी प्रकार के भय का प्रसंग रहता है और न प्रमादपूर्ण चंचलता का। ये दोनों जब नहीं रहते हैं तो आत्मा को भला कौनसा दुःख द्वन्द्व सता सकता है ? तब तो वहां ऐसी आन्तरिक मस्ती फैल जाती है कि जीवन में सुख और शान्ति सब ओर रम जाती है। जिस मन को इन पद पंकजों की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सुगंध मिल गई है तो वह मधुकर फिर किसी दूसरी गंध की तरफ कभी भी नहीं जायगा। वह तो परमात्मा के उन पद-पंकजों में बन्द हो जाना पसन्द करेगा, किन्तु उन से दूर किसी भी अवस्था में जाना नहीं चाहेगा। यह मधुकरी वृत्ति का श्रेष्ठ पक्ष है।

पृथकत्व का अभिमान तथा समर्पण की अभिन्नता

प्रश्न इतना ही है कि मनुष्य का मन परमात्मा के इन दोनों पद-पंकजों की सुगंध के प्रति एकनिष्ठ बन जाय। यदि वह अपनी साधना से एकनिष्ठ बन जाता है, तभी समर्पण का भाव प्रबल रूप धारण करता है। परमात्मा के प्रति समर्पण कर देने का आशय यह होता है कि आत्मा अपने पृथकत्व के अभिमान को समाप्त करदे एवं परमात्मा के प्रति अपने स्वरूप की अभिन्नता को साकार बना ले। इसी रूप में श्रुत धर्म एवं चारित्र्य धर्म की आराधना में मन की अभिन्न वृत्ति जागृत हो जानी चाहिये। यदि इस रूप में समर्पण का भाव नही जागता है और मन में पृथकत्व का अभिमान भरा रहता है तो सही वस्तुस्थिति यह है कि उस मन के द्वारा श्रुत एव चारित्र्य धर्म की आराधना भी वास्तविक नही बन पड़ती है। भंवरा जब तक अपने को कमल के साथ एकत्व भावना के साथ नहीं जोड़ता है तो क्या वह प्रीति की उस पराकाष्ठा तक पहुंच पाता है ? अपने अस्तित्व तक को परमात्म–स्वरूप मे विगलित कर देने को जब भावना बनती है, तभी अहंकार विगलित होता है और समर्पण की अभिन्नता की झलक दिखाई देती है।

कोई श्रुत एवं चारित्र्य धर्म को अंगीकार भी करले लेकिन अहंकार को नहीं त्याग सके तो उसमें समर्पण वृत्ति का विकास कैसे हो सकता है ? और एकात्मकता नहीं आई तो परमात्मा से सच्ची मधुकरी–प्रीति कैसे होगी ? धर्म भी साथ में रहे और अभिमान भी साथ में रहे—ऐसा नही हो सकता है। जो ऐसा चिन्तन करता है, वह वस्तुतः धर्म का चिन्तन नहीं है। वह तो स्वयं समर्पित नहीं होना चाहता बल्कि श्रुत और चारित्र्य धर्म को अपनी अहं वृत्ति समर्पित करना चाहता है। यह मनुष्य मन की बड़ी विचित्रता है, जो जानकर भी परमात्मा के श्रेष्ठतम पदों में समर्पित नहीं हो पाता है। ऐसा व्यक्ति

जीवन की श्रेष्ठता का स्वामी तो क्या, भागीदार भी नहीं हो सकता है।

इस दृष्टि से संसार पक्ष की स्थिति के अनुसार दो तरह के रूपक हैं। एक रूपक समर्पित अवस्था से सम्बन्ध रखता है तो दूसरा रूपक ऐसे जीवन से सम्बन्धित है, जो समर्पित नही होता है।

एक बड़ा सेठ है जो लाखों का मालिक है, लेकिन उसके कोई सन्तान नहीं है। उसका मुनीम ही सर्वेसर्वा है। वह पूरी तनख्वाह लेता है और सारा कार्य सम्हालता है। सेठ ने आखिर अपने उत्तराधिकार को कायम रखने के लिये एक बालक को दत्तक लिया। वह बच्चा एक प्रकार से सेठ को समर्पित हो जाता है। वह दत्तक सेठ का विनय करता है तथा उसकी सेवा करता है। दूसरी ओर मुनीम वेतन लेकर सारा कारोबार सम्हालता ही है तो सेठ की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का स्वामी कौन बनेगा ? समर्पित होने वाला ही स्वामी बनेगा।

दूसरा रूपक यह कि एक ओर एक बहिन किसी राजा के यहां धायमाता के रूप मे रहती है तो दूसरी ओर राजा की रानी है। बताइये कि इन दोनो मे से कौन राजा की समग्र सम्पत्ति को ले सकती है। धाय-माता तो जो भी वेतन या एवजाना पाती है, वही पाती रहेगी क्योंकि वह समर्पण भाव से युक्त नही है। किन्तु राजा की पत्नी ही सर्वथा भावेन सम-र्पित थी, अतः वही राजा की उत्तराधिकारिणी हो सकती है।

इन रूपको को आध्यात्मिक रूप से लीजिये। यह मन है जिसको किसके प्रति समर्पित करना है ? इसको भगवान् के चरणो मे समर्पित नहीं करके क्या मुनीम और धायमाता की तरह रखना है ताकि यह पृथकत्व के अभिमान मे डूबा रहे ? अथवा इसको दत्तक और पत्नी की तरह सर्वथा-भावेन समर्पित कर देना है ताकि यह परमात्मस्वरूप सम्पत्ति का उत्तराधि-कारी बन सके ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

परमात्मा के उत्तराधिकार का अधिकार कब ?

परमात्मस्वरूप का उत्तराधिकार इस आत्मा को तभी मिल सकता है, जब यह उसके प्रति सर्वथा भावेन समर्पित हो जायगी तथा समर्पित बनी रहेगी। घर में जन्मी हुई पुत्री के समान यदि आत्मा यह समझ ले कि वह वीतराग प्रभु के श्रावक के घर जन्मी है और उसे श्रुत तथा चारित्र्य-धर्म बपौती मे मिले है तो क्या उसे समग्र रूप से वे मिल जायेंगे ? नही। हां,

उन्हें कुछ अंशों में मिल सकते हैं पर वह समग्र रूप से उनको पा नहीं सकते। जैसे एक बेटी को अपने घर में वारिस होने का रिवाज नहीं है क्योंकि उसका समर्पण उस घर में नहीं होता है तो समग्र रूप से समर्पण किये बिना जब संसार में भी उत्तराधिकार नहीं मिलता है तो परमात्म-स्वरूप का महान् उत्तराधिकार भला पूर्ण समर्पण के बिना कैसे मिल सकता है ?

इसलिये कवि आनन्दघन जी ने उक्त प्रार्थना में संकेत दिया है कि हे प्रभु, आप घननामी है—आपके बहुतेरे नाम हैं। मैं इन सब नामों के पीछे आपके पवित्र स्वरूप को ही ग्रहण करता हूं तथा आपके श्रुत व चारित्र्य धर्म रूपी पराग के प्रति एकनिष्ठ बनकर आपके उस स्वरूप के प्रति सर्वथा भावेन समर्पित होता हूं। इसलिये आप मेरी अरदास को सुनिये। इस प्रार्थना का यह आध्यात्मिक रस मनुष्य के मन-मधुकर को प्रभावित बनाने वाला है। यह रस मनुष्य को सब प्रकार के दुःख-द्वन्द्वों से मुक्त करता है और मुक्ति की दिशा में अग्रगामी बनाता है।

मन-मधुकर यदि प्रभु के पद-पंकज के इस पराग का पान करने की ओर प्रभावित नहीं हुआ तो वह संसार की विकारग्रस्त दशा में ही फंसा हुआ रह जायगा। जो परमात्म-स्वरूप को वरण करने की भावना नहीं रखता, वह पंकज को प्राप्त नहीं कर पाता है और संसार के पंक में ही फंस जाता है। एक व्यक्ति भंग पीकर बड़ा हर्षित होता है, लेकिन जब उसका नशा चढ़ता है तो कहा जाता है कि भंग की लहरें गिनना मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार सांसारिक विषयों का भोग तो एक आत्मा कर लेती है, लेकिन जब उनका कुफल उदय में आता है तो उन कष्टों को भोगना बड़ा कठिन हो जाता है।

इस मन की बड़ी विचित्र दशा होती है। पद पंकज पर जमे रहने के बाद भी कभी उड़कर प्रमाद रूपी पंक को छू लेता है तो उस मन-मधुकर के पंख उस कीचड़ से सन जाते है। एकनिष्ठ अवस्था वह होती है, जब अपने अस्तित्व तक को उस परम स्वरूप में विसर्जित कर देते हैं और ऐसा ही पूर्ण समर्पण होता है। पूर्ण समर्पित होने से ही एकाकार अवस्था प्राप्त हो सकती है; जो इस आत्मा को भी चरम एवं परम स्वरूप प्रदान करती है। उस परम स्वरूप की अधिकारिणी यह आत्मा बने—यही इसका चरम कल्याण है।

पद-पंकज के पराग में आपका मन-मधुकर रम जाय

परमात्मा के श्रुत और चारित्र्य-धर्म रूपी जो दो पद हैं, वे कमल के मानिन्द हैं। वे पद-पंकज हैं। उनका पराग है सम्यक् ज्ञान और सम्यक्

ारिम्य की आराधना। उस आराधना के प्रति मनुष्य का मन मधुकर बन
र जब एकनिष्ठ हो जाता है तो वह उसके प्रति समर्पित बन जाता है। उस
मर्पण की दशा में आत्मिक आनन्द की सृष्टि होती है, जिस आनन्द में विभोर
वस्था हो जाती है। वह उस पराग और सुगन्ध के अलावा सब कुछ भूल
ाता है। वह उस सुगन्ध से एकाकार हो जाता है। यही एकाकार दशा विक-
ित बनकर उस आत्मा को परमात्मा के स्वरूप मे एकाकार कर लेती है।

इस तथ्य को ध्यान मे लेकर अपने मन-मधुकर को परमात्मा के पद-
ंकज के पराग मे सराबोर कर लीजिये। मन का भंवरा ऐसा आनन्द–विभोर
ो जाय कि पद–पंकज के सुस्पर्श को छोडे ही नही–चाहे वह कमल बन्द हो
ा खुला रहे। ऐसी एकनिष्ठता जिस दिन आ जायगी, याद रखिये कि उस
दन आपका सारा मद, प्रमाद, अहंकार, विकार और दुःख द्वन्द्व स्वतः ही नष्ट
ो जाएंगे एवं आत्मा का पवित्र स्वरूप निखर कर ऊपर आ जायगा। यह
ात्मावलोकन का विषय है कि वह आध्यात्मिक निखार आप मे अभी कैसा है
ौर कितना और लाना है?



मन को कैसे परखें शान्ति स्वरूप को कैसे जानें ?

शान्ति जिन एक मुज विनती..................

संसार की चतुर्गति के बीच चौरासी लाख योनियों में जब यह आत्मा विविध प्रकार के कष्टों का अनुभव करती है—अनेक प्रकार की विपत्तियों में फंसती है तो वह दुःख और द्वन्द्वों की अशान्ति से भी भर उठती है। अशान्ति के अनुभव की चरम सीमा तक पहुंच जाती है तो कभी-कभी आत्मा में सद्बुद्धि जागृति उत्पन्न हो जाती है और उस अवस्था मे वह नया मोड़ पकड़ लेती है। यह एक माना हुआ तथ्य है कि कटु अनुभव के बाद जब इन्सान कोई नया मोड़ लेता है तो वह फिर उस रास्ते पर बहुत ही मजबूती से चलता है। उस रास्ते पर चलते हुए चाहे उसको कितनी ही चोटें सहनी पड़े और चाहे कितनी ही कठिन बाधाएं भी आवें, वह आशान्वित होकर अविचल भाव से आगे बढ़ता जाता है कि कहीं पर पहुंच कर उसको सारी बाधाओं से छुटकारा मिल जायगा तथा उसकी अवस्था निरभ्र एवं निर्भीक हो जायगी। इस संकल्प के साथ आगे बढ़ते रहने में अन्ततोगत्वा उसको शान्ति और स्थायी शान्ति की प्राप्ति होती है। कभी-कभी मार्ग बताने वाला गलत मिल जाता है और उसके बताये हुए गलत मार्ग पर वह चल पड़ता है तो वह घोर अशान्ति में भी गिर जाता है। ऐसी दशा में वह सही मार्गदर्शक की खोज करता है।

वह ऐसे पुरुष की खोज करता है, जिसने स्वयं शान्ति का मार्ग खोजा हो और स्वयं ने स्थायी शान्ति की प्राप्ति की हो।

शान्ति की चाह में शान्तिनाथ की याद

शान्ति प्राप्त करने की प्रबल भावना को लेकर जब कोई शान्ति का अभिलाषी पुरुष अपने शान्तिदाता की खोज करता है तो उसकी दृष्टि तीर्थंकर देवों की तरफ जाती है, जिन्होने अपने जीवन मे स्वयं शान्ति की शोध की; शान्ति को समग्र रूप से प्राप्त किया तथा शान्ति का सन्देश समस्त संसार को दिया। तीर्थंकर घनघाती कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान के परम आनन्द में जब रमण करते हैं तो वे परम शान्ति में भी रमण करते हैं। इन चौवीस तीर्थंकरों में भी नाम की दृष्टि से शान्तिनाथ भगवान् की ओर दृष्टि जम जाती है और वह कवि के स्वरों मे स्वर मिलाकर उनसे प्रार्थना करने लग जाता है—

> शान्ति जिन एक मुज विनती,
> सुणो त्रिभुवन राय रे।
> शान्ति स्वरूप केम जाणिये,
> कहो मन केम परखाय रे ?

शान्तिनाथ भगवान् को शान्ति का अभिलाषी निवेदन करता है—हे प्रभु, आप शान्ति के नाथ हैं और मैं शान्ति का उपासक हूं। मैं शान्ति के रूप मे आप ही को पाना चाहता हूं क्योंकि मुझे शान्ति के परम स्वरूप को वरणा है। इसलिये आप ही मुझे शान्ति का मार्ग बतावें कि मैं मन को कैसे परखूं और किस प्रकार शान्ति के स्वरूप का ज्ञान करूं ?

शान्ति की जब चाह बनती है तो शान्तिनाथ भगवान् की ही याद आती है, क्योंकि याद उसी की आती है, जो अपनी अभिलाषा की पूर्ति करने मे समर्थ होता है। इस दृष्टिकोण से एक शान्ति का अभिलाषी शान्तिनाथ भगवान् का याद करने का उपक्रम करता है। शान्तिनाथ भगवान् के साथ नाम की विशेषता है, बाकी सभी तीर्थंकर स्वरूप की दृष्टि से समान होते हैं। उन मे कोई भेद नही होता है और वस्तुतः जो शान्तिनाथ की आराधना है या विमलनाथ भगवान् की आराधना है, वह सारे चौबीसों तीर्थंकरों की अथवा समस्त तीर्थंकरो की आराधना होती है। अतः शान्तिनाथ भगवान् को याद करने का अर्थ है तीर्थंकरत्व को याद करना—वीतरागता का स्मरण करना। वीतरागता को स्मृतिपटल पर लाने से रागमुक्ति की चाह होती है और राग-मुक्ति से शान्ति की उपलब्धि होती है। शुद्ध सम्यक्त्व का आचरण करती हुई

सम्यक् दृष्टि आत्मा परमात्मा स्वरूप में भेद नहीं देखती है। शान्तिनाथ भगवान् के नाम स्मरण से भी शान्ति मिलेगी तो वैसी ही शान्ति ऋषभदेव, अजितनाथ या किन्हीं भी तीर्थंकर भगवान् का नाम स्मरण करने से भी मिलेगी। सबका स्वरूप एक सरीखा है। फिर यह कल्पना उठने का प्रश्न ही नहीं है कि अमुक भगवान् शान्ति देंगे और अमुक नहीं देंगे। एक सम्यक्त्वी यही भावना रखता है कि भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हुए और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विराज रहे हैं, वे सब मेरे शान्ति-प्रदाता हैं। किसी भी एक तीर्थंकर के नाम में सभी तीर्थंकरों का स्मरण समाविष्ट होता है। इसी भावना के साथ एक शान्ति का अभिलाषी शान्ति-प्राप्ति की चाह रखता हुआ भगवान् शान्तिनाथ का पुण्यस्मरण करता है और शान्ति के मार्ग की तन्मय बनकर शोध करता है।

भगवान् त्रिभुवन के स्वामी तो शान्ति प्रदाता भी

प्रार्थना में कवि कहते हैं—हे भगवन्, आप त्रिभुवन के स्वामी हैं। ये त्रिभुवन याने कि तीन लोक कौनसे हैं? ये हैं—१. अधोलोक जिसमें नरक नारकीय जीवों का निवासस्थल है, २. तिरछा लोक, जो मर्त्य लोक भी कहलाता है और जिसमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव रहते हैं तथा ३. ऊर्ध्व लोक जहां देवताओं का निवास रहता है। अधोलोक में सिर्फ नारकीय जीव ही रहते हों—ऐसी बात नहीं है। वहां नरक के नेरियों का विशेष तौर से रहने का प्रसंग अवश्य है, लेकिन भुवनपति जाति के देव भी रहते हैं। वे नारकीयों के बीच के आन्तरे में रहते हैं। कुल सात नरक बताये गये हैं। उनके बीच में आन्तरे और पाथड़े बताये गये हैं, जिनका अर्थ होता है, वह बीच का भूमिखंड जो एक से दूसरी नरक के बीच में अन्तर के रूप में छूटा हुआ रहता है। वहां नरक के नेरिये नही रहते, बल्कि भुवनपति देवता रहते हैं। पाथड़ों में नरक के नेरिये रहते हैं। इस प्रकार अधोलोक का स्वरूप बताया गया है।

इसी प्रकार व्यन्तर जाति के देव भी उर्ध्व लोक में पैदा नहीं होते हैं। वे तिरछे लोक की सीमा के नीचे पैदा होते हैं, लेकिन उनका क्रीड़ास्थल तिरछा लोक होता है। वे व्यन्तर देव अपनी प्रकृति से ज्यादा चन्चल होते हैं तथा तिरछे लोक मे बड़ा कौतूहल रखते हैं। इसी कारण यहां अन्यान्य स्थानों पर इन व्यन्तर देवों का चमत्कार देखने में आता है। कई बार उन चमत्कारों को देखकर कई लोग भयभीत भी हो जाते हैं। मैंने कई वर्ष पहले श्री जेठमल जी सेठिया के मुंह से कलकत्ता का एक ऐसा ही किस्सा सुना था। कलकत्ता

के पास एक अंग्रेज की भव्य कोठी थी। अंग्रेज लावारिस रहा, इसलिये उसकी मृत्यु के बाद कोठी सरकार के नियन्त्रण में आ गई। वहां पहरेदार लग गये, लेकिन जो भी उस कोठी में रात को सो जाता, वह सुबह मरा हुआ मिलता। उसका रहस्य खोजने की हिम्मत एक दिन एक साहसी व्यक्ति ने की। उसने कोठी के सारे दरवाजों और खिड़कियों का बन्द कराके सब कमरों की चाबियां अपने पास ले ली और सब कमरों की बत्तियां जला दीं। स्वयं के लिये उसने ऊपर का एक कमरा चुन लिया। उसने तय किया कि वह सारी रात बैठा रहेगा। रात होने पर वह उस कमरे में बैठ गया, जहां से उसको सारी कोठी का दृश्य दिखाई दे रहा था। रात को बारह बजे ऐसा हुआ कि सारी कोठी की बत्तियां एक साथ बुझ गईं और सब ओर अंधेरा छा गया। उसने साहस करके सारी बत्तियां फिर जलादी, जो दूसरी बार फिर बुझ गईं। तीसरी बार उसने सारी बत्तियां फिर जला दीं, लेकिन तीसरी बार भी बत्तियां फिर बुझ गईं। एक फर्क यह पड़ा कि इस बार उसके कमरे की बत्ती नहीं बुझी। वह साहस करके बैठ गया। तभी उसने देखा कि उसके कमरे के दरवाजे पर एक अंग्रेज और उसकी मेडम खड़े हैं। उसने अपनी [illegible] कर पूछा—तुम कौन हो और यहां क्यों आये हो? अंग्रेज ने कहा—मैं इस कोठी का मालिक था, मेरा मन इस कोठी में [illegible]। मरने के बाद मैं [illegible]। फिर भी कोठी के मोह के कारण [illegible] हूं। उसने कहा—[illegible] रहता है, उसको [illegible] क्यों [illegible] है? [illegible] ने कहा मैं किसी को नहीं मारता। [illegible] भी नहीं मरे। उसने [illegible] कोठी को [illegible]। पसन्द के एक कमरे [illegible] वालों को [illegible] लोक में जो [illegible] सक्रिय होते हैं। [illegible]

उसी को सताता है, जिसको शान्ति की अनुभूति नहीं मिलती। अशान्त व्यक्ति सदा भयग्रस्त रहता है क्योंकि उसका मन स्वाधीन नहीं होता है। वह जड़ पदार्थों की लालसाओं में भटकता रहता है। शान्ति की राह पर चलते हुए भी जब तक पूर्ण शान्ति की अनुभूति नहीं हो पाती है, तब तक भय के संस्कार उस जीवन में भी कभी-कभी उभर कर आ जाते हैं।

सच्चे आनन्द की अनुभूति तो उसी अवस्था में हो सकेगी, जब मन सद्वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के मार्ग पर चलता हुआ पूर्णतः स्वाधीन हो जाता है। सच्चा आनन्द जब मिलता है, तभी सच्ची शान्ति की अनुभूति हो सकती है।

मन की शुद्ध भूमि पर शान्ति का तेजस्वी स्वरूप

जितने प्रकार की भी अनुभूतियां होती हैं, वे मन की भूमिका पर ही स्पष्ट बनती हैं, क्योंकि मन ही उनका पारखी होता है और मन ही उनके लिये क्रीड़ास्थली का भी काम करता है। मन की जैसी वृत्ति होती है, वैसी ही अनुभूति वह लेना चाहता है। जहां तक उसकी वृत्ति रागात्मक एवं विकार पूर्ण बनी रहती है, तब तक पराधीनता के रूप में मन जड़ पदार्थों से आनन्द और शान्ति की अनुभूति लेना चाहता है, जो स्थायी रूप से उसे मिलती नहीं है। तब उसको अपनी भूल का पता चलता है कि उसकी शान्ति की खोज ही गलत थी। इसी भूल से वह शिक्षा लेकर 'शान्ति' के सही स्वरूप का ज्ञान करता है।

शान्ति के सही स्वरूप का ज्ञान ही मन को उसकी गतिविधियों के सम्बन्ध मे एक नया मोड़ देता है। मन को एक धक्का लगता है कि उसने शान्ति की खोज गलत स्थान पर की और इस तरह अपने श्रम को व्यर्थ किया। इस धक्के से सही जानकारी को अमल में लाने का मन का उत्साह दुगुना हो जाता है। जब वह आश्वस्त हो जाता है कि अब उसको शान्ति के स्वरूप का सही ज्ञान हो गया है तो वह गलत तत्त्वों से अपना पीछा भी छुड़ा लेता है। वह अपनी पराधीनता को पकड़ लेता है और उसको दूर करके ही चैन पाता है। तब वह स्वाधीन हो जाता है तथा स्वाधीन होकर ही आध्यात्मिक तत्त्वों को समझ सकने की क्षमता को प्राप्त करता है।

याद रखिये कि मन की स्वाधीन भूमिका पर ही आत्मविकास का महल खड़ा होता है तथा उसमें ही शान्ति का तेजस्वी स्वरूप प्रकाशित होता है। जो माया है; वह सब मन की है। इसी मन को सुधारने और स्वाधीन

नाने की समस्या है। यह मन रास्ते पर लग जाय तो आत्मानन्द एवं आत्म-
ान्ति की मंजिल समीप आ जाती है। मन ही मनुष्य को बांधता है और मन
ी उसको मोक्ष दिलाने में मददगार बनता है। इस कारण मन को जो परख
ार स्वाधीन बना लेता है, वह शान्ति के मूल स्वरूप को भी जान जाता है
था स्वयं शान्ति प्राप्त करके संसार को भी शान्ति का सन्देश दे देता है।
सलिये शान्तिनाथ भगवान् के चरणों को ग्रहण करें—उन चरणों की आराधना
रें, क्योंकि उसके बिना सच्ची शान्ति मिलने वाली नहीं है। जिनको शान्ति
ी चाह है, वे शान्ति के स्वरूप को जानेंगे तो इस जीवन में शान्ति का प्रसग
ा सकता है।



नाना विध वेदनाएं और शान्ति की अनुभूति

शान्ति जिन एक मुज विनति,
सुणो त्रिभुवनराय रे ।
शांति स्वरूप किम जाणिये ?
कहो मन किम परखाय रे ।।

मनुष्य जीवन में रहती हुई अधिकांश आत्माएं अपने निज स्वरूप को भुला करके आत्मस्वरूप से भिन्न जड़ स्वरूप पदार्थों तथा उनकी लालसाओं में रमण करती रहती हैं। उस दशा में वे अपना स्वभाव विस्मृत कर जाती हैं तथा विभाव की स्थिति में बह जाती हैं। जब मनुष्य के जीवन में नाना विध वेदनाएं तथा शरीर सम्बन्धी कष्ट उपस्थित होते हैं तो उसकी अन्तरात्मा तिलमिला उठती है। उसे बड़ा दर्द होता है, बड़ा दुख होता है और फलस्वरूप बड़ी अशान्ति होती है। वह त्राहि त्राहि कर उठता है कि उसको कितनी घोर अशान्ति है—कहीं से कोई आकर उसको शान्ति प्रदान करे। जो उसे शान्ति देने वाला हो, उसका वह बड़ा उपकार मानेगा। ऐसी शान्ति-कामना दुःखों का अनुभव करते हुए मनुष्य की होती है। लेकिन फिर भी वह शान्ति के प्राप्त करने के अनुरूप कार्य नहीं करता है, क्योंकि वह शान्ति का यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाता है।

वह कभी शान्ति का स्वरूप जानने के लिये भगवान् को पुकारता है, लेकिन भगवान् कहां हैं ? जहां शान्तिनाथ भगवान् के नाम से सम्बोधन किया जा रहा है, वे तो सिद्ध अवस्था में विराजमान हैं। उनके अन्दर सब कुछ देखे

बनने वाली आत्मा का धन्यवाद इसी कारण किया गया है कि तब मनुष्य शान्ति को प्राप्त करने के लिये सक्रिय और सचेष्ट हो जाता है।

जिस भव्य प्राणी के अन्तःकरण में शान्ति को प्राप्त करने की ज गहरी और प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है तो वह शान्ति की शोध करं उसको प्राप्त कर ही लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र की प्राकृत गाथाओं में अनाथ मुनि का वृत्तान्त विस्तार से आया है कि किस प्रकार वेदना से संत्रस्त बनक उन्होंने शान्ति की सच्ची जिज्ञासा पैदा की तथा अन्त मे शान्ति को वे प्रा करके ही रहे। अनाथी मुनि का वृत्तान्त तो आपने कई बार सुना होगा, लेकि क्या उनके उन भावों पर कभी आपने गंभीर चिन्तन किया हैं, जिन भावों शान्ति का स्वरूप प्रकट हुआ ?

घोर वेदना से शान्ति की उग्र कामना

अनाथी मुनि जब गृहस्थ अवस्था में थे, उनके शरीर में घोर वेद पैदा हुई और उससे वे अत्यन्त अशान्त हो गये। उनको ऐसी वेदना हो र थी जैसे कोई उनके शरीर पर लगातार वज्र का प्रहार कर रहा हो। जै आज के जमाने में शरीर के किसी भी अंग को बिजली का करेन्ट छू जाय त सारे शरीर में कैसी वेदना होती है—उससे भी कई गुना वेदना अनाथी मु के शरीर में हो रही थी। वेदना की गंभीरता का कोई अनुमान लगाना कठिन है तो उसका कथन करना तो और भी कठिन है तथा ऐसी वेदना भुगतने वाला भी उसको पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकता है। अनाथी मुनि नैत्र जल रहे थे—सारा शरीर वेदना से सुलग रहा था। इस घोर वेदना उन्हें शान्ति कैसे मिले और वह शान्ति कौन दे सकेगा—यही शान्ति-काम उनके हृदय में चल रही थी।

उनकी दृष्टि अपने परिवार के सदस्यों की तरफ गई। वे सोच लगे कि पिता मेरे लिये क्या-क्या बोल रहे हैं ? पिता भी उनके लिये शा पैदा करने के विविध उपाय कर रहे थे। घर मे सम्पत्ति की कोई कमी न थी-अरबों खरबों की सम्पत्ति थी। अम्बावाडी सहित हाथी जितने रत्नों ढक जाय, उतने रत्नों को एक इभ की सम्पत्ति कहते थे। ऐसे कई इभों जित सम्पत्ति उनके पिता के पास थी। पिता उस सम्पत्ति को पानी की तरह ब रहे थे और चाह रहे थे कि किसी भी प्रकार उनका पुत्र शान्ति प्राप्त करे वे चिकित्सकों पर चिकित्सक बुला रहे थे।

लेकिन उस घोर वेदना में कोई भी उपाय उन्हें शान्ति नहीं दे

रहा था । उन्हें किसी भी आत्मीयजन और परिजन से शान्ति नहीं मिल रही थी । पिता, माता, भाई, बहिन आदि परिवार के सभी सदस्य चाह रहे थे कि उन्हें शान्ति मिले, किसी भी प्रकार से उनकी वेदना शान्त हो, लेकिन वैसा नहीं हो रहा था । उनकी भावना को वे समझ रहे थे लेकिन उनकी भावना प्रभावपूर्ण नहीं बन पा रही थी या यों कहे कि प्रतिफलित नहीं हो रही थी । देखते-देखते वे सब कुछ देख रहे थे, लेकिन किसी भी कोने से शान्ति का स्वर नहीं फूट रहा था । ऐसी घनघोर थी उनकी वेदना और उसके साथ ही अत्यन्त प्रबल बन गई थी उनकी शान्ति–कामना । किसी भी कामना मे जब अतीव उग्रता उत्पन्न हो जाती है, तभी उस कामना के प्रतिफलित होने का प्रसग भी उपस्थित होता है ।

भावनाओं का एक नया मोड़

शान्ति की कामना अनाथी मुनि की उस समय उग्र बनी तो शान्ति की खोज भी उग्र बनी और तभी उनकी भावनाओं मे एक नया मोड आया । वे विचार करने लगे कि मैं शान्ति चाह रहा हु लेकिन उस शान्ति के लिये किनकी तरफ देख रहा हूं ? क्या मुझे मेरे परिजन शान्ति दे सकेंगे ? क्या मुझे मेरी अपार सम्पत्ति से शान्ति मिल सकेगी ? इस संसार के वातावरण में क्या कहीं भी शान्ति के प्राप्त हो जाने की आशा है ? इस तरह वे शान्ति के स्वरूप पर गहरा चिन्तन करने लगे और उस वेदना मे उन्हे विदित हुआ कि बाहर के किसी भी कोने से उनको शान्ति मिलने वाली नही है ।

यह कल्पना कि भाइयो के बड़े परिवार हों, सन्तान सेवाभावी हो, घर मे भारी सम्पत्ति हो या अन्यान्य उपलब्धियां हों तो शान्ति मिल सकती है ऐसी मनुष्य की कल्पना हकीकत में कल्पना ही होती है । जिस समय वेदनीय कर्म उदय मे आते हैं और शरीर मे नाना विध वेदनाएं पैदा हो जाती हैं, उस समय सारा परिवार देखता रहता है लेकिन वेदना भुगत रहे अपने आत्मीय की वेदना को कोई भी अपने ऊपर ले नही सकता है और उसको शान्ति दे नहीं सकता है ।

अनाथी भी यही सोचने लगे कि सभी परिजन मुझे हर तरह से शान्ति देने का प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन मेरे अशाता वेदनीय कर्मों के उदय मे कोई भी मुझे शान्ति दे नहीं पा रहा है । इन अशाता वेदनीय कर्मों का मेरे को बंध इस जन्म मे तो नही हुआ, लेकिन पहले के किसी न किसी जन्म में अवश्य हुआ है और इस आत्मा ने जब इन कर्मों का बंध किया है तो उनका

फल भी इस आत्मा को भोगना ही पड़ेगा । उसके बिना इस आत्मा का छुटकारा नहीं है । जो आत्मा जिन कर्मों को बांधती है, उन कर्मों को तोड़ भी वही आत्मा सकती है । यह नहीं है कि पुत्र कर्म बांधे और पिता उनका फल भोग ले । जो जैसा करता है, वही वैसा भरता है । यह अज्ञानपूर्ण विचार है कि किसी एक को दूसरे का पुण्य मिल जायगा या एक के कर्म का फल दूसरा पा लेगा । यह भी अज्ञानपूर्ण विचार ही है कि मरने के बाद पिता की आत्मा अशान्त होगी और उनका तर्पण वगैरह विधिवत् कर लिया जाय तो उसे शांति मिल जायगी । इस तरह से अगर शान्ति मिल जाती हो तो शान्ति बड़ी सस्ती हो जायगी और उसकी खरीद-फरोख्त शुरु हो जायगी । समझें कि पिता की मृत्यु के बाद पुत्र किसी विप्र से पूछता है—पंडितजी, मेरे पिता की आत्मा को शान्ति कैसे मिलेगी ? तब पंडितजी कहते हैं—बेटा, इस समय शीतकाल है सो बीकानेर की मोटी कम्बल नहीं, काश्मीर की कोमल कम्बल दान मे दोगे तो तुम्हारे पिता को शीत की वेदना से शान्ति मिलेगी । पुण्यफल के इधर उधर होने की ये सब बातें बच्चों के तमाशे जैसी ही हैं । वीतराग वाणी पर विश्वास रखने वाले ऐसा कभी नहीं करते, बल्कि ऐसा सोचते भी नहीं हैं । एक किस्सा है कि जब एक ब्राह्मण ने पिता की शान्ति के लिये इस तरह के उपाय बताये और ढेर सारी सामग्री की मांग की तो वह पुत्र चतुर व्यापारी था, उसने कहा—मैं सारी सामग्री मंगा देता हूं लेकिन मेरे पिताजी को एक आदत थी कि वे एक साथ पांच तोला अफीम लेते थे, तभी उनको शान्ति मिलती थी। सो आप पहले पांच तोला अफीम अभी मेरे सामने ले लें, फिर सारी सामग्री ले जावें तो मेरे पिता को अवश्य ही शान्ति मिल जायगी। यह सुनकर तो पंडित जी भागते ही नजर आये । कहने का आशय यह है कि शान्ति के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास किया जाना चाहिये । उस घोर वेदना के समय अनाथी शान्ति के वास्तविक स्वरूप पर ही गंभीर चिन्तन करने में लगे हुए थे । शान्ति कहां से प्रस्फुटित होगी—यह उनके चिन्तन का केन्द्रबिन्दु बना हुआ था ।

शान्ति कहीं बाहर से नहीं, अपने ही भीतर से फूटेगी

अनाथी मुनि का चिन्तन जब नया मोड़ लेकर बहने लगा तो उसके प्रवाह की गति बाहर से सिमट कर भीतर की ओर मुड़ गई । वे अपनी ही अन्तश्चेतना मे लवलीन हो गये । उन्हें तब आभास होने लगा कि शान्ति कहीं बाहर से आने वाली नहीं है । शान्ति तो अपने ही भीतर से फूटेगी । शान्ति

का स्वरूप ही अपनी आत्मा का स्वरूप है और आत्मस्वरूप की आन्तरिकता में ही शान्ति का निर्झर प्रस्फुटित हो सकेगा । अशान्ति का मूल कारण तब उनकी पकड़ मे आ गया था । उनके मन मे यह निष्कर्ष निकलने लगा कि यह बाहर जितना कुछ है, सब प्रपंच है और प्रपंच रहते हैं, तब तक अशान्ति ही रहती है । यह अशान्ति आत्मस्वरूप से दूर-दूर भटकने की अशान्ति है, इस कारण आत्मस्वरूप में रमण करना आरंभ करे तो फिर अशान्ति बनी नहीं रह सकेगी । अशाता वेदनीय कर्मों को भोगना तो पड़ेगा ही, फिर इनके कारण अशान्ति क्यों पैदा की जाय, बल्कि इनको शान्तिपूर्वक भोग लेंगे तो आत्मा में ज्ञान का एक नया प्रकाश पैदा हो सकेगा । मनुष्य अशाता वेदनीय कर्मों को नहीं चाहता, लेकिन उनके बंध के कारणों को मिटाने का प्रयास नहीं करता तथा दूसरी ओर उन कर्मों की उदयावस्था में उनको शान्तिपूर्वक सहन नहीं करता। यदि बंध के कारणों को मिटादें और पहले के बंधे हुए कर्मों को निर्द्वन्द्व हो सहन करलें तो वह कर्म मुक्ति की दिशा मे आगे बढ़ जायगा तथा शाश्वत शान्ति की अनुभूति लेने लगेगा ।

इस सदर्भ मे एक सामाजिक सुधार की बात कह दूं कि गमी के वक्त पर जो आप लोगों के घरो मे रोने-धोने का रिवाज बना हुआ है, वह बहुत ही अशोभनीय है तथा आर्त रौद्र ध्यान की दुर्भावनाओं को बढ़ाने वाला है । किसी मृतक के घर जाने वाली बहिनें भी वहां जिस ढग से रोती-धोती हैं, उससे घरवालों को सान्त्वना मिलनी तो दूर, उनको अधिक दुःख ही पहुचता है । कोने में बैठी विधवा बहिन को वे और ज्यादा ही रुलाती हैं । कई बार तो दोनों ओर का रोना-धोना या एक ओर का रोना धोना रिवाज के कारण जबरन जैसा होता है । ऐसी कुरीति का त्याग किया जाना चाहिये । यह सब जानते हैं कि जोर से रोने-धोने से मृतक वापिस आता नहीं है, फिर ऐसी कुरीति के कारण अशाता वेदनीय कर्म का ही बंध होता है । जो साहस करके ऐसी कुरीति को छोड़ते हैं, ध्यान रखिये कि उनकी निन्दा-विकथा करने से भी अशाता वेदनीय कर्म का बंध होता है ।

अनाथी मुनि सोच रहे थे कि मैंने कई जन्मो में कितनों को ही रुलाया होगा और मैं भी कितनी बार रोया होऊंगा । वे ही अशाता वेदनीय कर्म आज मेरे उदय में आये हैं । अब और रोऊंगा तो और कर्मों का बंध होगा । इसलिये साहस करके कर्मों के इस सिलसिले को तोड़ देना चाहिये

क्योंकि यह सिलसिला टूटेगा, तभी भीतर की गहराइयों में से आनन्ददायी शान्ति फूटेगी।

अनाथी मुनि का संकल्प और शान्ति का अनुभव

तब अनाथी मुनि ने संकल्प लिया कि यदि आज रात्रि में मेरे अशाता वेदनीय कर्म चुक जायेंगे और मुझे शान्ति मिल जायगी तो प्रातः होते ही मैं अशान्ति के झूले में झूलने वाले इस संसार को छोड़ दूंगा, सूर्योदय होते ही माता पिता की आज्ञा लेकर दीक्षा अंगीकार कर लूंगा। मैंने देख लिया है कि संसार के सारे आत्मीय, सारा वैभव और सारी सुविधाएं मिलकर भी मुझे शान्ति नहीं दे सके।

इस प्रकार जब आत्मा की गहरी आवाज के साथ ऐसा संकल्प बना तो उस दृढ़ता के सामने वेदनीय कर्म भागते चोर की तरह बन गये। चोर चोरी करने आता है और अगर मालिक को सावधान देखता है तो दबे पैर वापिस भाग जाता है, उसी प्रकार एक जागृत आत्मा के सामने कर्म टिके नहीं रह सकते हैं। आवश्यकता इसी पुरुषार्थ की होती है कि आत्मा कर्मों की स्थिति को पहिचान ले तथा उनको अपने से संलग्न न रहने दे। यदि इन पवित्र भावनाओं के साथ आत्मा अपने कर्मों को पहिचान लेती है तो वर्षों के कर्म अल्पतम समय में उदीर्ण कर सकती है और शान्ति प्राप्त कर सकती है।

अनाथी मुनि का भी इसी प्रकार का प्रसंग आया। जैसे जैसे वे अपने आत्मस्वरूप और कर्मों की स्थिति को पहिचानते गये, वैसे वैसे उनके वेदनीय कर्म क्षय होने लगे और रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्हें नींद आ गई। यह देखकर सारे परिवार वाले अत्यन्त प्रसन्न होने लगे और अपने-अपने प्रयत्नों को सराहने लगे कि हमारे आत्मीय को शान्ति मिल गई है। प्रातःकाल उनके जागने पर सभी अपने-अपने प्रयत्नों के सुफल की सराहना करने लगे। उन्होंने मन में सोचा कि ये सब भद्रिक हैं। वेदनीय कर्मों का मेरे लिये अन्त कैसे हुआ है—इस तथ्य का इन्हें ज्ञान नहीं है। उन्होंने शान्ति की खोज की थी। वे संसार और आत्मा के स्वरूप को समझ गये हैं और इस कारण शान्ति के स्वरूप को भी समझ गये हैं। उनके हृदय मे शान्ति का आगमन हो चुका था जो उनके दृढ़ संकल्प से उनको प्राप्त हुई थी।

क्या आप भी शान्ति चाहते हैं ? यदि हां, तो उसका स्वरूप जानिये

चाहिए क्या आपको भी शांति ? अभी कदाचित् व्याख्यान में आ

ोलेंगे । एकान्त के प्रसंग में आप शायद एक दो पृष्ठों की सूची दे देंगे कि ितनी-इतनी सामग्री मिल जाय तो शान्ति पा लेंगे । लेकिन ऐसी लालसाओं े शान्ति मिलने वाली नहीं है । शान्ति को यदि प्राप्त करना चाहते हैं तो ान्ति के यथार्थ स्वरूप को समझना होगा । इस स्वरूप को किस प्रकार समझें सी के लिये अनाथी मुनि का रूपक आपके सामने रखा गया है । शान्ति के वरूप का आभास कराने के लिये मैं संकेत मात्र दे गया हूं । प्रार्थना में कवि े भी इसी सत्य की प्रेरणा दी है—

> शान्ति जिन एक मुज विनति;
>
> सुनो त्रिभुवन—राय रे ।
>
> शान्ति स्वरूप केम जाणिये,
>
> कहो मन केम परखाय रे ।।

जिन आत्माओं को शान्ति के स्वरूप का आभास हुआ या होता है, वे ात्माएं संसार के प्रपंचों से दूर हट करके शांन्ति को अपने ही स्वरूप की ान्तरिकता मे खोजती हैं और गहन चिन्तन के बाद प्राप्त करती हैं । ऐसा रना ही मानव जीवन की सार्थकता को प्रकट करता है । जिन आत्माओं ो शान्ति के स्वरूप का ज्ञान नही, अपने ही निज स्वरूप का भान नही और न्हें अपने अमूल्य मानव जीवन का भी ध्यान नहीं, भला उन्हें शान्ति कहां मिलेगी ?

ध्यान मे रखने की बात यह है कि संसार मे तथा सांसारिक सम्बन्धों वं पदार्थो मे जो शान्ति पाना चाहते हैं, वे केवल मृगतृष्णा के पीछे भटकते । रेत की लहरें जल का अनुमान देती हैं और प्यासा हरिण भागता हुआ खता जाता है । पास जाने पर जल का कहीं पता नही चलता, तब उसकी ह क्षणिक शान्ति घोर अशान्ति मे बदल जाती है ।

ान्ति की अनुभूति में ही मानव-जीवन की सार्थकता

मानव जीवन संसार की चोरासी लाख योनियों में भटकती हुई इस ात्मा के लिए एक दुर्लभ और अमूल्य जीवन होता है । इस जीवन की सार्थकता तभी प्रकट हो सकती है, जब इसमें शान्ति की उपलब्धि कर ली जाय— सी शाश्वत शान्ति की, जिसका अजस्र प्रवाह कभी टूटे नहीं—कभी सूखे नहीं । तत प्रवाहित यह शान्ति की धारा आत्मा के सारे कलुष को धो दे और अपने ारों ओर के वातावरण मे भी सबको शान्ति से प्रभावित बना दे । कई कारणों

ऐ कितनी ही उथल-पुथल मचे, लेकिन उस शान्त जीवन में कभी भी आतंक, उत्तेजना या अशान्ति का प्रवेश न हो सके।

शान्ति की अनुभूति में एक निराला ही आनन्द होता है, जिसे वही अनुभव कर सकता है, जिसने अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण में पूर्ण शान्ति को प्रविष्ट कर लिया हो। वह शान्ति का स्वरूप उसकी आत्मा के स्वरूप में एकाकार हो जाता है। उसकी वह एकाकार अवस्था ही भगवान् शान्तिनाथ के चरणों में पहुंचने की अवस्था होती है। उन चरणों में उसको अधिकाधिक शान्ति प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह आत्मा उन्हीं चरणों के स्वरूप का वरण कर लेती है—सम्पूर्ण शान्तिमय बन जाती है।



पाप-पुण्य के प्रसंग से मन का परीक्षण

शान्ति जिन एक मुज विनति,
　　सुणो त्रिभुवनराय रे ।
शांति स्वरूप किम जाणिये ?
　　कहो मन किम परखाय रे ॥

मनुष्य जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आत्मा को परम शान्ति की उपलब्धि कराना है । शान्ति को प्राप्त करने के लिये तीन चरणों में कार्य करना होगा । पहले चरण में शान्ति के स्वरूप का ज्ञान करना, दूसरे चरण मे शान्ति की शोध करना तथा उसके स्रोत का पता लगाना, तब तीसरे और अन्तिम चरण में शान्ति को उपलब्ध करना एवं अपने जीवन को शान्तिमय बना लेना होगा ।

दूसरे पर टिका हुआ रहता है और दोनों के स्वस्थ सन्तुलन से ही जीवन विचारपूर्ण एवं शान्तिमय हो सकता है।

चंचल मन का परीक्षण किस विधि से ?

मन का परीक्षण कई तरह से होता है और उसी परीक्षण के आधार पर सुविधा से शान्ति के स्वरूप का ज्ञान किया जा सकता है। जब तक अपने ही मन की चंचल वृत्तियों का तथा उसके विविध रूपों का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता है—उनको पहिचान कर सुधारने की क्षमता नहीं बनती है, तब तक वह त्रिकाल में भी और हजारों-हजार प्रयत्न करने पर भी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता है।

वस्तु स्थिति ऐसी ही है। अधिकांश मनुष्यों का मस्तिष्क विविध विषयों में विविध प्रकार के दृश्यों को प्राप्त करने में लगा हुआ है, लेकिन वे यह नहीं सोच पाते कि उनका मन कैसा तानाबाना बुन रहा है और क्या वह उस तानेबाने में अपनी ही स्वामिनी आत्मा को तो ओझल करके नहीं चल रहा है ? जैसे जौहरी अनेकानेक वस्तुओं के बीच और चमकीले पत्थरों व कंकरों में पड़े रत्न को पहिचान लेता है, वैसे ही मन का पारखी मन की ऊंची-ऊंची छलांगों में मन की वास्तविकता का पता लगा लेता है। किन्तु यह कार्य प्रत्येक साधारण मनुष्य नहीं कर सकता है। उसका ध्यान कंकरों और पत्थरों में ही उलझ जाता है—रत्न उसे कहां दिखाई पड़ते हैं ? वह प्रयास करके भी आसानी से मन की गतिविधियों को सुलझा नहीं पाता है। बड़ी बड़ी उलझनों को तो सुलझा पाना दूर की बात होती है, लेकिन दैनिक कर्त्तव्यों के कारण और फल की पहिचान भी उसको नहीं होती है। साधारणतः व्यक्ति बोलता है कि मैंने अमुक कर्त्तव्य कर लिया। अब उस कर्त्तव्य का फल अदृश्य रूप में भी कुछ नहीं होता तो सोचना पड़ेगा कि वह कर्त्तव्य कैसा था ? क्या वह कर्त्तव्य भी था ? एक रूपक सामने रखलें। लौकिक समस्याओं की दृष्टि से एक पुत्र अपने पिता की सेवा करता है। नागरिक की हैसियत से वही नगरवासियों की शान्ति के प्रयत्न करता है तथा कार्यकर्त्ता के रूप में जनता को अपने दुःख मिटाने में सहायता करता है। लेकिन इन कर्त्तव्यों का जब तक आत्मा की आन्तरिकता के साथ सम्बन्ध नहीं बैठता है, तब तक क्या इनके पालन का कोई फल सामने आ सकेगा ?

भारतीय संस्कृति में किसी भी कार्य की परीक्षा करने के लिये जो यंत्र बताया गया है, उसमें दो बिन्दु हैं—पुण्य और पाप के। इनके बीच में

कौन कहां चल रहा है, इससे उसके कार्य की परख होती है। वस्तुतः मन के परीक्षण के भी पाप और पुण्य दोनों ही बिन्दु हैं । मन का कांटा क्या पूरे तौर पर पुण्य के क्षेत्र मे है या पाप के क्षेत्र मे है अथवा किस-किस क्षेत्र में कितनी-कितनी डिग्री पर है ? उस कांटे को देखकर ही मन की शुभाशुभता का परिचय मिलता है। पुण्य और पाप ये दोनों शब्द आम लोगो में भी खूब प्रचलित हैं। उनको स्थूल विचार भी रहता है कि कौन-कौन से कार्य करने से पुण्य होता है तथा कौन-कौन से कार्य करने से पाप होता है ? पाप और पुण्य के प्रसंग से ही मन का सही विधि से परीक्षण किया जा सकता है।

पाप पुण्य का आधार, कारण तथा फल

भारतीय चिन्तकों के चिन्तन से उभरे हुए प्रायः सभी दर्शन पाप और पुण्य के विषय में अपना एकसा मतव्य अभिव्यक्त करते हैं। पुराणों की दृष्टि से-

> अष्टादश-पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम् ।
> परोपकारो पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।।

व्यासजी ने सार रूप मे यही कहा है कि दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के बराबर पाप नहीं है तो दूसरों को सुख पहुंचाने के बराबर पुण्य भी नहीं है। यह बात सापेक्षता मे है। जहां पाप और पुण्य-इन दो शब्दो की संरचना है तो जानना यह है कि पुण्य तत्त्व क्या है और पाप तत्त्व क्या है ?

इस जीवन के साथ जितनी शक्ति है; वह सब पुण्य का फल है। शरीर सुन्दर है, स्वास्थ्य अच्छा है, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्नता भी है तथा अपने स्वभाव के अनुकूल परिवार के सदस्य भी हैं तो ये सब अनुकूलताएं तथा सुख साधन पुण्य के फल रूप मे प्राप्त होते हैं। यह शास्त्रीय विश्लेषण है। सुख साधनों की प्राप्ति को पुण्य का फल कहेंगे और इसके साथ एक शब्द अधिक जोड़ देंगे कि अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

दूसरी ओर मनुष्य तन में ही रहा हुआ एक व्यक्ति फुटपाथ पर पड़ा हुआ एक-एक रोटी के टुकड़े के लिये चिल्लाता है—फटे कपड़ो में सर्दी के कारण ठिठुरता है, तो यह भी इसी मनुष्य जीवन का ही दूसरा पहलू है। ऐसा किस कारण से होता है ? इस दयनीय स्थिति के पीछे पाप के फल का उल्लेख होता है। कार्य से कारण का शीघ्र पता चल जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। कार्य कारण सम्बन्ध को इस रूप मे समझिये कि आपके सामने रोटी आई तो रोटी किससे बनी ? आटे से। इस रूप में

आटा रोटी का कारण हो गया। रोटी देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि आटा आया और उससे रोटी बनी। वैसे ही इस संसार में पापके सामने अच्छे से अच्छे-जीवन का रूप भी दिखाई देता है तो बुरे से बुरे कार्य भी होते हैं। साधन-सम्पन्न जीवन जो दिखाई देता है, वह पुण्य के फलस्वरूप होता है तो पाप के फलस्वरूप आप अभावग्रस्त जीवन को देखते हैं। अच्छे कार्यों का परिणाम पुण्य रूप होता है तो बुरे कार्यों का परिणाम पाप रूप।

पुण्य और पाप आत्मा के साथ बंधते हैं। आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध कैसे होता है तथा किये जाने वाले कार्यों में पाप और पुण्य का विभाजन कौन करता है ? कार्यों का विभाजन दो प्रकार से ही किया जा सकता है एक अच्छे कार्य और दूसरे बुरे कार्य। कर्त्तव्य में अच्छे कार्य ही शामिल होने चाहिये, लेकिन कभी-कभी मनुष्य बुरे कार्यों को भी कर्त्तव्य बना लेता है कत्लखाना चलाने वाला कह देता है कि कत्लखाना चलाना मेरा कर्त्तव्य है मच्छीमार भी ऐसा ही कहता है, लेकिन ये काम कर्त्तव्य की कोटि में नहीं आते, बल्कि ये तो अकर्त्तव्य हैं। महापापकारी कार्यों को कर्त्तव्य मानना पाप की आग में घी डालना है। इससे पाप का महाबन्ध होता है। जीवन निर्वाह के लिये कोई भी अल्पारम्भ वाला धंधा किया जाता है तो उससे अल्प कर्म-बंध होता है।

इसके विपरीत जो शुभ भावों के साथ सबकी भलाई करता है, मानव सेवा करता है, माता पिता की आज्ञा में चलता है तो ये सब वास्तव में कर्त्तव्य हैं और इन कर्त्तव्यों को करने से पुण्य का बंध होता है। उववाई सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि एक पुरुष अपने माता पिता की भली प्रकार सेवा करता है तो उसको कम से कम चौदह हजार वर्ष तक पुण्य प्रकृति का बंध होगा—यह मूल पाठ है। वैसे ही अन्यान्य विषयों के प्रसंग से पुण्य बंध का उल्लेख किया गया है। इसके साथ उन कार्यों का भी उल्लेख है, जिनसे पाप प्रकृति का बंध होता है। ये सारी बातें शास्त्रीय दृष्टि से स्पष्ट की गई हैं।

पाप पुण्य सम्बन्धी कुछ विपरीत मान्यताएं

शास्त्रों में पाप पुण्य के स्पष्ट उल्लेख के उपरान्त भी कई लोग अपनी तुच्छ वृत्ति के अनुसार अपनी पकड़ की बात को साबित करने के लिये शास्त्र की बात को ठुकरा देते हैं और सामान्य जन को अपनी विपरीत मान्यता सही रूप में समझाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगों से यदि कोई स्पष्ट पूछे कि मैं शुभ भाव से माता पिता की सेवा कर रहा हूं, नगर निवासियों की

ा कर रहा हूं, दीन दुखियों की सेवा कर रहा हूं, अपनी शक्ति के अनुसार च्छे कार्यों मे सहयोग देता हूं, किसी के प्रति बदले की भावना नहीं रखता , मैं नि.स्वार्थ भावना से सारा कार्य करता हूं तो बताइये मुझे मेरे इस र्त्तव्यपालन का क्या फल मिलेगा ?

इस प्रश्न के उत्तर मे जिनका मन–मस्तिष्क साफ है, सुलझा हुआ है था जो अपनी पकड़ी हुई गलत बात को भी सही साबित करने के लिये सत्य ो छोड़ते नही हैं, वे तो स्पष्ट कह देंगे कि इन सारे कृत्यो से तुम्हे पुण्य का ध होगा और यदि तुम श्रुत एवं चारित्र्य धर्म की भावना के साथ चलते हो ो आत्मशुद्धि के रूप मे धर्म का फल भी मिलेगा। लेकिन इसी प्रश्न का, लोग जो विपरीत मान्यता को सही बताने की गलत चेष्टा करते हैं; उत्तर ो कि हुआ क्या, जो कर्त्तव्य होना था वह हो गया। बस कर्त्तव्य कर लिया , आगे क्या होना है ? कुछ नही होना है। भद्रिक परिणाम वाले पुरुष सोच ते हैं कि कर्त्तव्य कर लिया—आगे उसका कोई फल नहीं होता है। हर किसी ो बुद्धि आगे नहीं पहुचती है, लेकिन जिसमे थोडी सी भी तीव्र बुद्धि है, वह ो पूछेगा कि जो भी और जैसा भी काय किया, उसका पुण्य या पाप रूप कोई भी फल न हो, क्या ऐसा भी कभी हो सकता है ? एक गृहस्थ अपने हस्थाश्रम मे विवाह आदि करके सबके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता तो क्या उसका कोई फल ही नहीं होगा ? वे लोग शुभ भावना से किये ये ऐसे पारस्परिक कर्त्तव्यों को भी पाप बताते हैं। यही नही, वे इस विषय ो गलत तर्क और गलत उदाहरण देकर सारे विषय को उलझन में पटक देने ी चेष्टा करते हैं। जैसे वे उदाहरण देते हैं कि एक पंचायत कार्यालय में ार्य करने वाला व्यक्ति ग्राम पचायत के आदेश से मछलियां मार कर लाता तो उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया, फिर इसमे पाप क्यों माना जाता ? तब पूछने वाला उलझन की स्थिति से उत्तर नही दे पाता है और तब उसके दिमाग मे यह बैठा देते हैं कि गृहस्थी मे रहने वाला व्यक्ति जितने ी कर्त्तव्य करता है, उन सबका फल पाप बधन रूप होता है।

पाप और पुण्य के सम्बन्ध मे एकदम विपरीत मान्यता इस रूप में चलित हो रही है। एक गृहस्थ अपने अच्छे कर्त्तव्यो का पालन करता हुआ ी यदि पाप का बंध करता है तो शायद उसके लिये पुण्य–बंध का कोई कारण हेगा ही नहीं। एक व्यक्ति सदिच्छा से माता, पिता, परिवार और समाज की सेवा कर रहा है, फिर उसे उसका पुण्यफल क्यो नही मिलेगा ? इस प्रकार ी उलझनें जो पैदा की जाती हैं, उनको साफ करने के लिये भी सम्भिये दि

को हजम कर गया और ऊपर से मेरी पत्नी पर चरित्र-दोष लगा रहा है।
लेकिन इस बात का निर्णय तो निकालना ही पड़ेगा ।

वह अपनी शिकायत लेकर न्यायाधीश के यहां पहुंचा । सारी बात उसने उनके सामने रखी । न्यायाधीश ने उसको सांत्वना दी कि उसके साथ न्याय किया जायगा । न्यायाधीश ने उसके भाई को बुलाकर पूछा क्या परदेश से लौटते समय तुम्हारे भाई ने उसकी पत्नी को देने के लिये रत्न दिये थे ? उसने कहा—हां, दिये थे । मैंने चार प्रतिष्ठित लोगों की साक्षी में वे रत्न उसकी पत्नी को दे दिये थे । उसके कहे अनुसार उन चारों व्यक्तियों को न्यायाधीश ने बुलवाया । चारों को चार अलग-अलग कमरों में बैठा दिया । फिर प्रत्येक के सामने छोटी बड़ी साइजों के कई पत्थर रखे गये और पूछा गया कि रत्न जिस साईज के थे, उस साईज का इन में से पत्थर निकाल कर बताओ । हकीकत में उन्होंने रत्न तो देखे नहीं थे । चारों ने मनमाने ढंग से पत्थर छांट कर दे दिये, जो चारों ही अलग-अलग साईज के थे । जिसके यहां एक रत्न गिरवी रखा था, उसने सही साईज दी । उसके वहां से वह रत्न मंगवाया और जांच की गई कि क्या वह रत्न उसी भाई का है ? सारी जांच के बाद सारा मामला स्पष्ट हो गया ।

अब इस दृष्टान्त से देखिये कि पाप और पुण्य के क्या-क्या रूप हो सकते हैं ? ऊपर से क्या दिखाई देता है और भीतर क्या रहस्य होता है ? पाप और पुण्य का निर्णय मन की कसौटी पर ही निकलता है ।

कैसे करें मन का परीक्षण ? कैसे निखारें मन की कसौटी ?

पाप और पुण्य की परख मन की कसौटी पर ही की जा सकती है। जितनी मन की उलझनें हैं, वे मनुष्य को पाप प्रवृत्तियों में डुबोती रहती हैं। पाप कार्यों का फल पापबंध के रूप में होता है तथा पापबंध के उदय में कष्टों का सिलसिला, जिसमें मन उलझ-उलझ कर नये-नये पाप कार्यों में डूबता रहता है, यह अन्तहीन चक्र जैसा हो जाता है । इसीलिये इस तथ्य पर विचार करने की आवश्यकता है कि मन का परीक्षण कैसे करें और मन की इस कसौटी को किस तरह निखारें कि हर अच्छे बुरे का निर्णय इस कसौटी से निकल सके।

सबसे पहले मन की उलझनें मिटनी चाहिये । उलझनों में जो वृत्ति होती है, वह कभी भी व्यवस्थित नहीं हो सकती है । मन की गतिविधियों में व्यवस्था तभी आ सकती है, जब उसकी उलझनें कम से कम हों । मन को

उलझनों में जो व्यक्ति उलझा रहता है, वह भला शान्ति के स्वरूप पर विचार ही कैसे कर सकता है ? और इसके बिना जीवन विकास के लिये पुरुषार्थ कैसे किया जा सकेगा ? शान्तचित्तता और स्नेहमय व्यवहार—ये दोनो किसी भी कार्य की सफलता के लिये आवश्यक होते हैं तथा शान्त-चित्तता उलझनों से बाहर निकलने पर ही आ सकती है ।

मन का सही परीक्षण होगा तो उस पर सही नियंत्रण भी रखा जा सकेगा । तभी मन की कसौटी उजली बनेगी और पाप-पुण्य का भेद प्रतिक्षण स्पष्ट बना रहेगा । पहले के पाप कर्मों का उदय होगा, तब भी एक सुलझा हुआ मन सहनशीलता रखेगा और नये पाप कर्मों का बंध नहीं होने देगा । इसके लिये वैसा मन सन्त-समागम भी करेगा तथा वीतराग वाणी से प्रतिबोध भी लेगा । वह समझ लेगा कि इस अमूल्य मानव-जीवन का उसको सदुपयोग करना है तथा एक बार उलझनो से निकल कर फिर उलझनों मे नही गिर जाना है । इसीलिये कवि ने प्रेरणा दी है कि—

शान्ति स्वरूप किम जाणिये,
कहो मन केम परखाय रे ?

कोई भी काम कैसे होगा—यह समस्या तब तक ही रहती है, जब तक संकल्प सुदृढ नहीं हो जाता है । संकल्प और पुरुषार्थ की शक्ति जब संयुक्त हो जाती है तो यह 'कैसे' उड जाता है । 'जहां चाह, वहां राह' की उक्ति के अनुसार जटिल से जटिल कार्य भी तब सरल बन जाता है ।

यह सही है कि मन का परीक्षण एक जटिल कार्य है और उससे भी जटिल कार्य होता है मन पर नियंत्रण स्थापित करना—किन्तु यह चिन्तन करने और संकल्प बनाने मात्र का प्रश्न है, क्योंकि यह क्रिया अगर मन करले तो फिर मन जीवन-विकास की यात्रा भी सरलता से पूरी कर लेगा । यह मन आखिर आत्मा का ही एक पुर्जा है और आत्मा मे अपने पुर्जे को ठीक से रखने और ठीक से काम लेने की योग्यता आ जाय तो फिर यह मन, ये इन्द्रियां और यह शरीर सभी साधन धर्म-साधना मे नियोजित किये जा सकते हैं । इस सद्वृत्ति के साथ तो जड़ तत्त्वों का याने कि धन सम्पत्ति का उपयोग भी चेतन तत्त्वो को जगाने के काम मे किया जा सकता है । यह सब एक जागृत आत्मा द्वारा अपने मन को सही मोड़ देने की बात मात्र है ।

पाप-निवृत्ति से पुण्य-प्रवृत्ति तथा पुण्य से कर्मक्षय की ओर

पाप और पुण्य के प्रसंग मे जब मन का परीक्षण करेंगे तो उद्बोधित

मन पापबंध के कार्यों से अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को दूर हटा लेगा। तब पापकारी कार्यों से निवृत्ति लेकर लोककल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति बनेगी और उनसे पुण्य का बंध होगा। पुण्यकर्म जब उदय में आएंगे तो उनसे वे सभी साधन-सुविधाएं प्राप्त हो सकेंगी जो मनुष्य को धर्म की ओर प्रेरित कर सके। उस धर्म-करणी का प्रभाव सांसारिक उपलब्धियों से अलग हटकर आत्म-शुद्धि के रूप में प्रकट होगा। आत्मा की अशुद्धि होती है, कर्म पुद्गलों की संलग्नता से और शुद्धि का यही अभिप्राय होगा कि आत्मा के साथ संलग्न इन कर्मों का क्षयोपशम हो। कर्म दबेंगे और कर्म मिटेंगे तो जीवन में पापकारी प्रभाव घटता चला जायगा और अन्त में जाकर कर्मक्षय का ही सिलसिला जम जायगा। जो कर्मक्षय का अन्तिम बिन्दु है, वही मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिये पाप प्रवृत्तियों से विलग होना नितान्त अनिवार्य माना गया है। पाप प्रवृत्तियों से यथाशक्य विलग होते रहने में कष्टकारी कर्मों का दबाव कम होता जाता है और उतने ही अंशों में भलाई के काम करने से पुण्यकर्म का बंध होता है। ये पुण्य कर्म जीवन-विकास के साधन जुटाते हैं। ठीक इसी तरह जैसे कि एक नदी को पार करने के लिये नाव की जरूरत पड़ती है। ये साधन नाव का काम देते हैं। जब तक नदी के दूसरे किनारे पहुंच नहीं जाते, तब तक नाव का आश्रय लेना पड़ता है, लेकिन दूसरे किनारे पर अपना पांव तभी धर सकेंगे, जब नाव को भी छोड़ देंगे। इसी प्रकार मोक्ष में जाने के लिये पुन्य को भी छोड़ना पड़ता है याने अशुभ और शुभ दोनों कर्म छूटते हैं और सर्वथा कर्ममुक्ति की श्रेणी प्राप्त करनी होती है।

कर्मक्षय का यही उपाय है कि मन को पवित्र बनाया जाय और आत्मशुद्धि की जाय। इस प्रकार से जो शान्ति प्राप्त करने का अपना लक्ष्य बनाते हैं, वे मन को मोड़ते हैं, कर्मनिष्ठ बनते हैं और आत्मशुद्धि को निखारते हैं।

आपको भी पूछूं तो आप यही कहेंगे कि कर्म तोड़ने हैं और मोक्ष में जाना है। तो इसके लिये मन को पहिचानना होगा—परखना होगा और उसकी लगाम हाथ में पकड़ कर उसको अपने ढंग से चलाना होगा। मन की गतिविधियों में पवित्रता आएगी तो सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन भी यथोचित रीति से होगा और अन्ततोगत्वा उस आत्मा के चरण सम्पूर्ण कर्मक्षय याने कि पूर्ण शान्ति और मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ेंगे।



निर्ग्रन्थ-संस्कृति और शांत क्रान्ति

आज का यह अवसर वीतराग देवों की पवित्र संस्कृति की पावन अवस्था का प्रतीक है। तीन मुमुक्षु आत्माओं ने अभी आपके सामने भागवती दीक्षा अंगीकार की। उनके परिवार जनों ने इस धर्म-सभा के सामने अपनी स्वीकृति दी, अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के तथा स्थानीय संघ के अध्यक्ष जी ने संघ की ओर से अनुमति प्रदान की, तब इन तीन भव्य आत्माओं को दीक्षा दी गई है। यह स्थल इस आध्यात्मिक विशेषता को लिये हुए है। इस स्थल पर आज जो यह पावन प्रसंग उपस्थित हुआ है, वह मानव जाति के लिये और मुख्य रूप से भव्य जनों की भव्य आकांक्षाओं की दृष्टि से आत्म-कल्याण हेतु आत्म-साधना का एक समुज्ज्वल प्रसंग है। इस आत्मकल्याण हेतु की जाने वाली आत्म-साधना में निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति को सुरक्षित रखने का सुदृढ प्रयत्न भी समाहित है।

आज के इस उत्साहप्रद प्रसंग पर वक्ताओं ने और कवियों ने अपनी शुभ भावनाओं का प्रकटीकरण किया है। उन भावनाओं को जरा गहराई से आप भी अपने अन्तःकरण मे उतारें एवं निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के भव्य स्वरूप को ध्यान मे लें तो इसकी सुरक्षा के प्रति एक कटिबद्धता आपके हृदय में भी जागृत हो सकेगी।

दो बीज, राग--द्वेष

आज द्वितीया तिथि है। दूज को जो चन्द्रमा उदय होता है, वह अपनी कलाओं को अभिवृद्ध करता हुआ पूर्ण चन्द्र का स्वरूप ग्रहण करता है।

आज की यह सामान्य शुक्लता शीतल तेजस्विता को धारण करती हुई पूर्णिमा के दिन पूर्ण शुक्लता को प्राप्त होती है। इस शुक्ला द्वितीया के दिन मुमुक्षु आत्माओं ने भी अपनी संयम यात्रा शुक्लता के साथ प्रारंभ की है और सभी की शुभकामना है कि यह यात्रा शुक्लतर बनती जाय। दूज के इस प्रसंग की दृष्टि से इनकी भावनाएं आत्म-कल्याण के पथ पर समुन्नत एवं समुज्ज्वल बनें- यह उनके लिये हितावह है और निर्ग्रन्थ संस्कृति की प्रभावना की दृष्टि से भी उपयोगी है।

आत्मस्वरूप को जानने के लिये यह एक निमित्त है, जिससे आन्तरिक विकृतियों का पता लगावें और आत्मशुद्धि का प्रयास प्रगतिशील हो। वस्तुस्थिति की दृष्टि से चिन्तन करें तो स्पष्ट रूप से विदित होगा कि आत्म-कल्याण का जो मार्ग वीतराग देवों ने प्रशस्त किया है, वही मार्ग महत्वपूर्ण, शुद्ध एवं पवित्र है। यह ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर प्रत्येक भव्य प्राणी अपनी अन्तश्चेतना के विकास के साथ अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है।

आत्मा की शुद्धि मे तथा इस आत्मशुद्धि के चरम विकास में बाधक तत्त्वों की दृष्टि से दो मुख्य तत्त्व बताये हैं और वे हैं राग और द्वेष। उत्तराध्ययन सूत्र में भ० महावीर ने बतलाया है—

> रागो य दोसो विय कम्म-बीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
> कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ मरणं वयंति॥
>
> उ० सू० अ० ३२ गा० ७

राग और द्वेष के ही बीज आत्मा के धरातल पर अंकुरित हो करके इस चतुर्गति संसार में विशाल वृक्ष का रूप धारण करते हैं, जिसकी टहनियों और पत्तों पर मदान्ध आत्माएं अपने निज स्वरूप के प्रति भानहीन बनकर परिभ्रमण करती रहती हैं। इस परिभ्रमण में अनेक तरह के कष्टों, दुःखों एवं दुविधाओं का सामना करती रहने पर भी यह विडम्बना का विषय है कि आत्माएं इन बाधक तत्त्वों के वास्तविक रूप को नहीं समझ पाती हैं। विरली ही आत्माएं होती हैं जो राग-द्वेष की जटिल ग्रंथियों को यथावत् जान पाती हैं और उनसे छुटकारा पाने के उपाय सोचती हैं। ऐसी आत्माएं जब मुमुक्षु बनती हैं— ग्रंथियों को हटाकर निर्ग्रन्थ बनना चाहती हैं तभी ऐसे प्रसंग (भागवती दीक्षाओं के) उपस्थित होते हैं। महावीर प्रभु के इस शासन काल में उनकी वीतरागता की यह पवित्र धारा [illegible] अर्थात् [illegible] साथ वीतराग से प्रवाहित होती हुई चल रही है, जिसमें भव्य आत्माएं [illegible] होकर अवगाहन करती रही हैं।

समय-समय पर राग और द्वेष के बीजों ने अपने विभिन्न रूप लेकर मानवों के मन को भी प्रभावित करने की चेष्टा की और कभी-कभी साधक आत्माएं भी राग-द्वेष के लुभावने दृश्यों में उलझने लग गईं, परिणामस्वरूप वीतराग देवों की पवित्र संस्कृति कुछ ओझल सी होने लगी। धीरे-धीरे राग द्वेष और काम, क्रोध की छिपी हुई लालसाएं धार्मिक क्षेत्र में भी यदा-कदा व्याप्त सी होने लगी। उस समय मे जागृत आत्माओं ने अंगड़ाई ली—अपने जागृत स्वर को उन्होंने बुलन्द किया। उन्होंने अपना ध्यान निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा पर भी केन्द्रित किया तथा रागद्वेष की आन्तरिक ग्रंथियां किन-किन रूपों में उभरती हैं—इसका भलीभांति विश्लेषण किया और इस पवित्र संस्कृति की सुरक्षा के लिये अपने जीवन का बहुत बड़ा योगदान दिया। उनको यह जागृति आत्मशुद्धि के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई।

निर्ग्रन्थ संस्कृति और एकता

यह आत्म-जागृति का पवित्र प्रवाह प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है, जो कि महावीर प्रभु के शासन की शुभ धारा मे उभरता रहा है। आधुनिक समय मे क्रान्ति के जो कुछ स्वर उभरे, उनमे आचार्य श्री हुक्मीचंद जी म. सा. ने इस संस्कृति की पवित्रता की सुरक्षा के लिये अपने जीवन मे एक ज्वलंत आदर्श उपस्थित किया तथा उनके पीछे एक के बाद एक महापुरुष ने इस पावन आध्यात्मिक दीपशिखा को सतत प्रज्वलित रखते हुए अपने जीवन की अर्पणा की।

अभी-अभी कुछ वर्ष पूर्व भी ऐसा समय आया था, जब राग और द्वेष की कुटिल प्रवृत्तियां, न मालूम प्रचार-प्रसार के नाम से अथवा अह लिप्सा की दृष्टि से या यश कीर्ति की कामना से कुछ साधकों का मन मस्तिष्क झकझोरने लगी थी और ऐसा लगने लगा था कि कई साधक अपनी प्रतिष्ठा और अपने सत्कार सम्मान के लिये रागद्वेष की प्रवृत्तियों मे उलझ रहे हैं। तब एक ऐसी दिव्य आत्मा ने अंगड़ाई ली कि जिसका शरीर दीखने मे वृद्ध था किन्तु भीतर की चेतना तरुणाई से भरी हुई थी। शारीरिक कमजोरी मे भी उस महापुरुष ने निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये अपनी आन्तरिक आवाज बुलन्द की और यह स्पष्ट किया कि मुझे अपने मानसम्मान और विरुदावली की कोई कामना नहीं है—मेरी तो यही आकांक्षा है कि निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति की पवित्रता सुरक्षित रहे। मुझे तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप तथा वीतराग देव की पावन संस्कृति चाहिये। मुझे संख्या की विपुलता की आवश्यकता

नहीं है, अपितु शुद्धतर चारित्रिक जीवन की अपेक्षा है।

उस नरपुंगव के आत्मघोष से वातावरण ने नया मोड़ लिया। रागद्वेष की ग्रंथियों का विमोचन होने लगा तथा निर्ग्रंथ संस्कृति का [illegible] चारित्रिक शुद्धता की एक नई लहर चल पड़ी। परन्तु कई भद्रिक लोग [illegible] लिये यह कहने लगे कि हमारे समाज की एकता बन गई है, इसमें ये [illegible] क्यों कर रहे हैं? लेकिन उस विशिष्ट पुरुष ने अपने अन्तःकरण की [illegible] को सुनने की कोशिश की और उसके अनुसार ही वे चले। वे जानते [illegible] कि ये भद्रिक लोग गहराई से नहीं सोच रहे हैं और आध्यात्मिक जीवन में [illegible] द्वेष की प्रवृत्तियों के प्रचलन से होने वाले घातक कुप्रभाव का अनुमान [illegible] लगा पा रहे हैं। इसीलिये निर्ग्रन्थ सम्कृति से विमुख बनकर भी एकता का [illegible] अलापा जा रहा था। उस महापुरुष ने यथार्थ अनुभव कर लिया था कि [illegible] मुख्य नहीं है—मुख्य है चारित्रिक शुद्धता, जीवन शुद्धि। चारित्रिक शुद्धि के [illegible] रूप ही एकता आवश्यक है। अतः जो एकता करनी है, वह चारित्रिक शु[illegible] के धरातल पर ही की जानी चाहिये। चारित्रिक दृष्टि से पीछे हटकर एकता की जायगी, उससे दुतरफी हानि होगी। साधु चरित्र भी विकृत [illegible] और विकृत चरित्र पर बनी एकता भी टिक नहीं सकेगी।

इस दृष्टिकोण के साथ उस विशिष्ट पुरुष ने एक सुझाव दिया [illegible] एक संशोधन दिया कि एकता हो लेकिन साधु आचार के चारित्रिक पक्ष पर-सैद्धान्तिक स्थिति के साथ एकता का निर्माण किया जाय। उस एकता [illegible] साधु के शुद्ध आचार पर बल रहे और जीवन के शुद्धिकरण का मूल [illegible] यह न हो कि एकता के आवरण के पीछे आत्मशुद्धि के लक्ष्य को ओझल [illegible] दिया जाय—वीतराग वाणी का हनन करदें। यदि ऐसा कर देते हैं तो [illegible] इधर के रहते हैं और न उधर के। अतः निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति को [illegible] जरूरी है और उसके लिये आत्मजागृति जरूरी है। ऐसा तुमुल [illegible] शांतक्रान्ति के जन्मदाता श्री गणेशाचार्य का।

चारित्रिक एकता और उसके हिमायती

स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने स्पष्ट कहा कि मैं [illegible] का पक्षपाती हूं किन्तु उससे भी पहले शुद्ध साधु आचार का पक्षपाती हूं। [illegible] शुद्धि के साथ मैंने एकता का प्रयत्न किया है और करूंगा। [illegible] एकता के मूल के सभी द्वार मुझे [illegible] यह बात कहना चाहता हूं कि [illegible] राग द्वेषों के इस पवित्र मार्ग को पतित बनाये रखने में सभी [illegible]

पूरा–पूरा योगदान दें ताकि भव्य आत्माएं अपने कल्याण पथ पर जीवनशुद्धि के साथ आगे बढ़ सकें । उस दिव्य पुरुष ने साहस करके एक व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक धरातल का मार्गदर्शन दिया तथा निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये शांतक्रान्ति का कदम उठाया ।

इस क्रान्ति का चरण जिस दिन उठा, वह भी दूज का ही दिन था। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा द्वारा जिनको आप सब जानते हैं उस शान्त क्रान्ति का अंकुर द्वितीया के दिन प्रादुर्भूत हुआ था जो निरन्तर प्रगतिशील है । इसका प्रतिफल जब जनमानस के समक्ष आया, तब उसके महत्त्व को उसके आलोचक भी समझने लगे । भव्य और मुमुक्षु जन, निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के प्रेमी और वीतराग देवो के उपासक साधक गण उस शान्तक्रान्ति का अनुसरण करने लगे ।

रागद्वेष की विषैली ग्रंथियां बीज रूप से पनप कर किस प्रकार वृक्ष रूप में फैलती हैं और सारे वातावरण को कलुषित बनाती है—इसको भी सामाजिक दृष्टि से सभी लोगो ने देखा । लेकिन उसके बाद लोगो ने इस शान्त क्रान्ति के परिणामों को भी देखा है कि चारित्र्यशुद्धि के साथ मे एकता की अवस्था कितनी सुदृढ एवं सहकारपूर्ण होती है और चारित्रिक व संयमीय शिथिलता से थोथी एकता की भी क्या अवस्था बनती है । इस परिवर्तन को देखकर आप सबका संकल्प जागना चाहिये कि रागद्वेप के बीज को समझ कर उसको पनपने न दें तथा आत्मसिद्धान्त के साथ सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य का संबल लेकर निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये आगे बढें । सम्पूर्ण समाज मे ऐसा जनमानस भी बनावें कि श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के साथ सुदृढ एकता का निर्माण हो । इस प्रकार की पवित्र स्मृति का संयोग आज इस प्रदेश मे दूज के दिन आया है ।

सस्कृति रक्षा का सेतु 'रत्नत्रय'

रागद्वप की ग्रंथियो को जीतने के लिये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य की शुद्ध आराधना की आवश्यकता होती है तथा इसी आराधना से निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा की जा सकती है । जहां राग-द्वेप की ग्रंथियां रहें, वहा निर्ग्रन्थ संस्कृति कैसे सुरक्षित रह सकेती है और पनप सकती है ? ग्रंथियां खुलेगी तभी तो निर्ग्रंथ अवस्था आ सकेगी । ग्रंथियां खोलने और निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त करने के लिये आत्मबल का विकास

करना पड़ेगा और आत्मबल की सहायता से समाज में सैद्धान्तिक मानसिक वाचिक और कायिक चारित्र की एकता स्थापित की जा सकेगी।

निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का मूलाधार इस दृष्टि से सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य की शुद्ध आराधना पर टिका हुआ रहता है। उसको सुरक्षित रखने के लिये स्व. आचार्यश्री ने नौ-सूत्री एक योजना भी रखी थी। उनके उस कदम को तत्क्षण जनता समझ पाई अथवा नहीं, लेकिन जैसे-जैसे समय बीत रहा है, वैसे-वैसे जनता अनुभव कर रही है कि वस्तुतः उस दिव्य पुरुष में कैसा ज्ञान था, कैसी दूरदर्शिता थी तथा संस्कृति की सुरक्षा के प्रति कैसी तीव्र लगन थी! शान्तक्रान्ति का वह चरण भव्य रूप मे समझा जा रहा है।

यह स्वाभाविक है कि जब कोई शांतक्रान्ति का कदम उठाया जाता है तो प्रारंभ में जनता उसको कम ही समझ पाती है। जैसे-जैसे चरण आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे उनकी प्राभाविकता समझ में आती है। अब अधिकांश लोगों का यह मत बन गया है कि उस समय जो कदम उठाया गया था, वह एक सही कदम था और उससे श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का संयोग बना। उस समय तो वे इस वस्तु स्थिति को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाये किन्तु आज उन दिव्य पुरुष की लगाई हुई फुलवाड़ी की सुगंध दिन प्रतिदिन महकती जा रही है—जिसे देखकर उसकी उपयोगिता का अनुभव किया जा रहा है।

३+३+३ से नव-साधना का प्रतीक

इस समय यहां त्रिवेणी (बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर) संगम में तीन मुमुक्षु आत्माएं ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीन गुणों का संयोग पाकर अपनी आत्मशक्ति का विकास करने के उद्देश्य से आगे बढ़ी हैं। इस अवसर पर तीन-तीन और तीन के संयोग से नौ-सूत्री योजना को हृदय में लेकर अपने जीवन को इदीप्त बनाने की दृष्टि से आगे बढ़ें तो भी का यह नवसाधना का प्रतीक बन जायगा। क्योंकि नौ के अंक में नौ तत्त्व हैं, जिन का अन्तिम तत्त्व मोक्ष है। जो मोक्ष की साधना है, वही नौ-सूत्री साधना है। इस योजना को आत्मसात् करते हुए चलें तो नौवां तत्त्व प्राप्त हो सकता है।

राग-द्वेष की ग्रन्थियों का विमोचन

नौ-सूत्री योजना के साथ नौवां तत्त्व मोक्ष जुड़ गया है लेकिन

इसके लिये रागद्वेष की ग्रंथियां खोलनी पड़ेगी अर्थात् आत्मा से अलग करनी होगी । इन ग्रंथियों में जितनी जटिलता होगी, उतने ही अधिक आत्म-बल की आवश्यकता पड़ेगी । आज के प्रसंग से इन आन्तरिक ग्रंथियों को खोलने की तथा निर्ग्रन्थ बनने के लिये आगे बढने की प्रेरणा ग्रहण करें । ग्रंथियां खोलने का प्रयास करेंगे तभी शुद्ध श्रावक-धर्म का निर्वाह कर सकेंगे और ज्यों-ज्यों ग्रंथियां खुलती जायेंगी, आपकी गति निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त करने की दिशा में आगे से आगे बढ़ती जायगी । जीवन की इसी गति के साथ निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की भव्य सुरक्षा हो सकेगी, बल्कि अपने आदर्श उदाहरण से इस संस्कृति का इतर जन जो परिचय प्राप्त करेंगे, वह सीधा प्रचार अधिक से अधिक लोगों को इस संस्कृति की तरफ आकर्षित करेगा । ऐसी आचार शुद्धि तथा सुदृढ़ एकता से इस भव्य संस्कृति की जो प्रभावना हो सकेगी, वह अतु-लनीय होगी ।

किसी व्यक्ति-पिंड को नहीं लेना है किन्तु विराट् जीवन को मस्तिष्क में रखिये । वीतराग देवों ने जाति, व्यक्ति आदि के सभी भेदभावों को दूर करके समग्र जीवन को गुणाधारित बनाने की श्रेष्ठ प्रेरणा दी है, उस प्रेरणा को सदा याद रखें तथा जीवन को तदनुरूप ढालने की चेष्टा करें । निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की उपासना करके ही जीवन की साधना को सफल बना सकते हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के चरम विकास को प्राप्त कर सकते हैं ।

आन्तरिक ग्रंथियों को खोलने के सम्बन्ध में यह तो धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र की बात कही गई है, लेकिन सासारिक जीवन जितना अधिक इन ग्रंथियों से ग्रस्त रहेगा, तब तक इस धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र का वातावरण भी सर्वांगतः सुन्दर नहीं बन सकेगा क्योंकि आखिर इस क्षेत्र में जो साधक प्रविष्ट होते हैं, वे ससार के क्षेत्र से ही तो आते हैं । इस दृष्टि से मूल बिन्दु के रूप में सोचना यह भी है कि आप के अपने सांसारिक जीवन में राग और द्वेष की ग्रंथियां कम हों तथा आपके अपने व्यवहार में भी निर्मल अन्तःकरण का वातावरण अधिक बने । रागद्वेष की ये ग्रंथियां कहीं भी रहें, ये उस व्यक्ति को, उसके जीवन तथा उसके आसपास के वातावरण को कलुषित बनाये बिना नहीं रहती हैं । यही कलुष जब तीव्र रूप धारण करता है तो सारे समाज और राष्ट्र में फैलता जाता है और कई प्रकार की विषम परिस्थितियां उत्पन्न कर देता है । इसलिये रागद्वेष जहां तक बोध रूप

में रहते हैं तभी उन्हें शमित करने का प्रयास किया जाय तो रागद्वेष-पूर्ण प्रवृत्तियों की बढ़ोतरी रुक जायगी और कलुष का विस्तार नहीं होगा।

इसलिये इन आन्तरिक ग्रंथियों को नये रूप में बनने से रोकें तथा बनी हुई ग्रंथियों को भी हृदय में सरलता लाकर खोलते रहें। धीरे-धीरे अन्तःकरण ग्रंथिहीन होकर सरलता के शुद्ध वातावरण में ढल जायगा। आत्मा को ग्रन्थिहीन बनाने के लिये निर्ग्रन्थ जीवन एक आदर्श प्रतीक होता है। इस निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट विशेषता ही यह है कि रागद्वेष की ग्रंथियों को समूल नष्ट करो। इसीलिये यह सर्वोत्कृष्ट संस्कृति है तथा इस सर्वोत्कृष्ट संस्कृति की सुरक्षा के लिये इसके अनुयायियों को किसी प्रकार का समर्पण करने में हिचकना नहीं चाहिए—सुरक्षा के प्रयत्नों में कभी ढील नहीं आने देनी चाहिये।

दृढ़ता से बढ़िये

ध्यान रखें कि यह शांत क्रान्तिकारी कदम जो स्व. आचार्य श्री के साहसपूर्ण नेतृत्व में प्रगतिमान हुआ, वह कभी भी पीछे नहीं हटा, बल्कि यह कदम आगे से आगे ही बढ़ता रहा और निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति को देदीप्यमान बनाता रहा। जो भी भाई बहिन निष्ठापूर्वक इस पवित्र संस्कृति को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं, वे इस शांत क्रान्ति में सम्मिलित होकर आत्मशुद्धि एवं संस्कृति-रक्षा के मार्ग पर अग्रसर बन सकते हैं। आप श्रावक श्राविका अपने स्थान पर रहते हुए साधु-साध्वियों को भी अपने शुद्ध मार्ग पर चलने दीजिये—उनको नीचे मत उतारिये। रागद्वेष की ग्रंथियों को कहीं पनपने मत दीजिये।

संस्कृति की सुरक्षा के मार्ग पर सबको दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ने दीजिये। किसी प्रकार के भय या आकांक्षा से चलना हुआ तो वीतराग मार्ग पर प्रगति नहीं हो सकेगी। जीवन छोटा है और साधना बहुत बड़ी है, इसलिये न तो बेभान रहिये और न असावधान। त्याग वृत्ति का ऐसा निर्माण करिये कि संस्कृति की सुरक्षा के लिये सर्वस्व तक के त्याग की तैयारी रहे। सब ही मुमुक्षु आत्माओं से भी मेरी यही मनोकामना है।



द्वेष को कैसे जीतें ?

संभव देव ते धुर सेवो सवेरे,
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिका रे,
अभय, अद्वेप, अखेद ।।सभव।।

इस जीवन मे चारो ओर इतने ज्यादा खतरे बिखरे हुए है कि पग-पग पर सावधानी की जरूरत है । आपत्तियो के काले बादल मडराते रहते है, विषमताओ के झझावात चलते है और विकारपूर्ण दूषित वृत्तियो का अधकार फैला रहता है । ऐसे घनघोर भयानक वातावरण मे कब कौनसी दुष्प्रवृत्ति इस जीवनी शक्ति का हरण करले—कुछ पता नही चलता । इस अमूल्य जीवन की किस समय क्या स्थिति बन जाय—कुछ कहा नहीं जा सकता है ।

आधियो और अधेरो के बीच मे भी यदि इस जीवन दीप को सुरक्षित एव प्रज्वलित रखना है तो वही मार्ग अपनाना चाहिये जिस पर चलने से यह दीपक प्रकाशमान रह सके और उसका प्रकाश निरन्तर अभिवृद्ध होता रहे ।

जीवन-केन्द्र को डूबने मत दीजिये :

सबसे पहले इस जीवन के मूल केन्द्र को पकडना है । उस केन्द्र की गतिविधियो एव वृत्तियो को समझना है कि वे किस प्रकार अपने मूल स्थान को छोडकर बाहर ही बाहर फैलती चली जा रही है ? वे बाहर के अधकार मे इस तरह विलुप्त होती जा रही है कि कभी-कभी उनका ओर-किनारा भी

नहीं दिखाई देता है। ओर-छोर दिखाई देता हो तो [illegible] भी उस छोर को पकड़ कर केन्द्र को काबू में रखा जा सकता है।

हाथी अगर समुद्र में डूब रहा है और उसका एक भाग [illegible] दिखाई देता है तो उसके सहारे पूरे हाथी को बाहर निकाल सकते [illegible] बहुमूल्य रत्नों की गठड़ी कपड़े में लिपटी हुई पानी में डूब गई है, लेकिन [illegible] कपड़े का थोड़ा सा छोर भी बाहर दिखाई दे रहा है तो पूरी गठड़ी [illegible] से बाहर निकाल सकेंगे। किसी भी वस्तु के गुम जाने पर यदि [illegible] का ओर छोर दिखाई दे जाता है तो उसके सहारे उस वस्तु को [illegible] सकते हैं। समझिये कि सूई गुम गई, लेकिन यदि धागा साथ में है तो [illegible] का पता आसानी से लग जायगा।

वैसे ही इस शरीर के भीतर में जो केन्द्र रहा हुआ है, उस [illegible] की शुद्धि के लिये सबसे पहला प्रयास होना चाहिये। लेकिन प्रश्न [illegible] आता है कि क्या उस केन्द्र का ओर छोर कहीं दिखाई दे रहा है? केन्द्र को [illegible] किये बिना और उसको अपने नियंत्रण में किये बिना तो उसकी शुद्धि [illegible] ही कैसे शुरू किया जा सकता है? उस आन्तरिक केन्द्र को समझने [illegible] उसके छोर को शरीर की बाह्य प्रक्रियाओं से पहले [illegible] समझें और [illegible] समझ कर उसकी आन्तरिकता को पहिचानें--उसके स्वरूप की [illegible] वहां कैसी अशुद्धि किस रूप में फैली हुई है तथा उस अशुद्धि को [illegible] से दूर की जा सकती है--इसका विश्लेषण करें। इसके बाद ही [illegible] बनाने का काम प्रारम्भ किया जा सकता है या यों कहें कि सभी [illegible] में बनाया जा सकता है।

पूरा डूबने मत दीजिये । जहां भी इसका जरा सा छोर दिखाई दे, उसको पकड कर इस केन्द्र को वाहर खीचते रहिये और वाहर निकाल कर इसको सही मार्ग पर गतिशील वनाइये ताकि मन केन्द्रस्थ रह सके और विपरीत मार्ग पर भटकना छोड़ दे ।

मन पर आत्मनियंत्रण हो :

मन की डोर को जव आत्मा अपने नियंत्रण में थामे रहती है, तभी मन की गति को विकारो के समुद्र मे डूवने से वचा सकते है । यह नियत्रण जितना मजवूत वनता जायगा, मन की अशुद्धियो को मिटाना भी आसान हो जायगा । ज्ञानीजनो ने मन की महत्ता को ख्यातित करने के लिये कहा है—

मन. एव मनुष्याणा, कारण वध–मोक्षयो. ।

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यो के वन्धन और मोक्ष का कारणभूत है। मन की गति सुनियत्रित एव सुनियोजित होती है तो उसी मन की सहायता से उत्कृष्ट धर्म साधना करके मोक्ष के द्वार तक पहुचा जा सकता है । इसके विपरीत यदि मन की गति स्वच्छन्द और उच्छृखल ही वनी रहे तो यह विना लगाम का घोडा सवार को कहा किस तरह पटकेगा और उसकी कैसी दुर्दशा बनायेगा—इसका कोई सही अनुमान नही निकाला जा सकेगा । मन की उद्दंडता भयकर रूप से खतरनाक होती है ।

किन्तु यदि इस मन मे तीन विशिष्ट गुणो का समावेश कर दिया जाय तो मन की गति स्वस्थ भी होगी और सदाशयपूर्ण भी वनेगी । अभय, अद्वेप एव अखेद को जीवन की समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे वसा लो तो फिर यही मन सम्पूर्ण जीवन की सुख–शान्ति का महान् केन्द्र वन जायगा । समावेश इन तीनो गुणो का होना चाहिये । यदि एक भी गुण की कमी रहती है तो मन की व्यवस्थितता भी पूर्ण नही वन पायगी । और केन्द्र की यदि दुर्दशा वनी रहेगी तो उस दुर्दशा से समूचा जीवन भी दुर्दशाग्रस्त ही वना रहेगा । इन तीन गुणो मे से अभी अद्वेप गुण पर विचार चल रहा है ।

द्वेप—यह मन की वहुत वडी अशुद्धि होती है तथा इस अशुद्धि को मूल से मिटाना आवश्यक है । द्वेप को जीत ले तभी अद्वेप का गुण आत्म–स्वभाव मे विकास पाता है । यह द्वेप का विकार वडा ही आत्मघाती होता है । द्वेप दूसरो के प्रति किया जाता है किन्तु इसका घातक प्रभाव पहले अपनी ही आत्मा पर पडता है । द्वेप अपने छोटे–छोटे रूपो मे आत्मभावो की

क्षति करता है लेकिन कभी–कभी द्वेष इतना विकराल रूप पकड़ लेता है कि आत्मघात तक करवा देता है। ऐसे आत्मघाती द्वेष के काले रूप को समझना चाहिये और उन उपायों पर अमल करना चाहिये जिन्हे अपना कर इस आत्मघाती द्वेष को जीत सकें।

जब अन्दर के केन्द्र रूपी मन में द्वेष बहुत ही वीभत्स रूप ले लेता है और अज्ञानतावश भीतर मे भयावह अशान्ति उत्पन्न कर देता है, तभी तम अधकार के उन क्षणो मे कोई व्यक्ति अपने जीवन को समाप्त करने के लिये आगे बढता है। यह द्वेष का भयंकरतम रूप होता है। द्वेष के वशीभूत हो व्यक्ति दूसरो की हत्या करता है, दूसरों को अपमानित व प्रताडित करता है तो अपने आसपास के वातावरण मे भी उत्तेजना और असुरक्षा पैदा करता है। दूसरों का अहित करने से पहले दूषित विचारों से द्वेषी व्यक्ति पहले अपना अहित करता है।

इस कारण द्वेष जैसी अशुद्धि को मन से मिटा देने के लिये सभी को पूरी तैयारी कर लेनी चाहिये।

द्वेष का जीवन पर कुप्रभाव:

द्वेष का विकार एक सेनापति के तुल्य है, जिसकी सेना मे सैनिकों की बहुत बडी सख्या होती है। उस सेना की स्थिति को आप छोटे–छोटे रूपों मे समझ कर चले। छोटी–छोटी बातो मे जो मनुष्य का माथा गर्म होता है, वह भी द्वेष ही है। इस द्वेष में उलझा हुआ व्यक्ति अपने मस्तिष्क के सन्तुलन को कायम नही रख सकता है। द्वेष की उत्तेजना मे गिर जाने पर मस्तिष्क में तरह–तरह के तनाव पैदा हो जाते है और उन तनावो का बुरा नतीजा यह निकलता है कि उनके कारण कई प्रकार की मानसिक एव शारीरिक बीमारियां पैदा हो जाती है, जिनका निदान भी जल्दी नही हो पाता है। डॉक्टर लोग इसी तनावपूर्ण स्थिति से अस्थायी राहत दिलाने के लिये नशीली गोलियां देते है जिनसे मस्तिष्क का और ज्यादा बिगाड होता जाता है। उनके कारण मस्तिष्क मे शून्यता आने लगती है। शून्यता उसकी विचारशक्ति को नष्ट कर देती है और इस प्रकार ऐसी चिकित्सा के कारण जीवन की क्षति हो जाती है।

द्वेष के विभिन्न रूप बड़े भयावह होते है तथा उनका जीवन पर घातक कुप्रभाव गिरता है। इस कारण द्वेष की वृत्ति को ही छोड़ने का प्र

किया जाय—वह श्रेयस्कर होता है। अद्वेष वृत्ति इस मन और आत्मा के लिये ऐसी औषधि है जिससे उनके स्वरूप पर विकार नही आता और शरीर को किसी भी प्रकार की क्षति नही पहुचती। अद्वेष वृत्ति बनाकर कोई भी चिन्तन करेगा तो उसे महसूस होगा कि छोटी-छोटी बातो मे धैर्य खोकर उलझने से दूसरे का तो बदला निकलेगा या नही, लेकिन अपने जीवन की तो बहुत बडी हानि हो जायगी। तब वह सोचता है कि द्वेष करके अपनी हानि क्यो की जाय ? इस वृत्ति से इस समय भी दुखी बनते हैं तो कर्म बधन करके भविष्य को भी दुखपूर्ण बना लेते है।

द्वेष का त्याग करना बहुत कठिन नही है। किसी ने कुछ कह दिया तो कह दिया—उसके कुछ कह देने से सुनने वाले का क्या बिगड जाता है ? सिर्फ मन को वश मे करने की बात है कि वह व्यर्थ मे ही उत्तेजित नही बने। क्षणिक उत्तेजना जीवन की स्थायी हानि कर देती है। उदाहरण के तौर पर यदि एक व्यक्ति ने उत्तेजना मे आकर सामने वाले व्यक्ति को उत्तेजित करने के लिये कुछ ऊचा नीचा कह दिया कि तू अपने आपको क्या समझता है, मैं तेरी मूछो के बाल उखाड कर फैंक दूगा। उसने कहा ही, बाल उखाड कर फैंके नही। लेकिन यह बात सुनकर सामने वाले व्यक्ति के मन मे द्वेष बल पकड लेता है और वह भी उत्तेजित हो जाता है। उस उत्तेजना मे वह उसको मारने के लिये जूता या डडा लेकर दौडता है अगर वह ज्यादा शक्तिशाली है तो मार डालता है। वरना गालिया देता है, मन मे कुढता है और उससे बदला निकालने की सोचता है। ऐसी उत्तेजना और तनाव मे वह स्वय को दुखी बना लेता है।

ऐसी ही द्वेष पूर्ण छोटी-छोटी बाते जीवन पर बडा बुरा असर डालती है। द्वेष की क्रियाओ और प्रति-क्रियाओ मे वह इतना उलझ जाता है कि जीवन मे फिर कोई उपयोगी या हितकारी कार्य करना सभव नही होता। यह द्वेष जहर की तरह आत्मगुणो का घात करता ही रहता है।

द्वेष को हटाने के उपाय :

वास्तव मे यह द्वेष की वृत्ति मन की विचारणा के अनुसार ही चलती है। मन उत्तेजना पकड़ लेता है तो द्वेष प्रबल बन जाता है और मन ही किसी की कैसी भी बात पर सयत बना रहे तो द्वेष टिक भी नही सकेगा। ऊपर के उदाहरण से ही समझे कि उस व्यक्ति द्वारा उत्तेजना दिलाने के बावजूद सामने वाला व्यक्ति यह सोच ले कि वह मेरी मूंछो के बाल उखाडने की

बात कहता है पर बाल तो वैसे ही निर्जीव होते हैं और यदि वह उनको उखाड़ना ही चाहता है तो उखाडले—उसका क्या बिगड़ता है, उल्टे नाई को पैसे नही देने पड़ेंगे। वह इतनी क्षमा धारण कर ले और मन मे द्वेष नहीं लावे तो क्या वह अपने ही जीवन की क्षति से बच नही जायगा ? सामने वाला ऐसे उत्तर से स्वयं ही लज्जित हो जायगा। इस अद्वेष वृत्ति से दोनों व्यक्तियों का हित सध जायगा।

अद्वेष वृत्ति का साधक यह भी सोच सकता है कि सामने वाले के पास मे यही वस्तु है जिसे वह देना चाहता है—और कोई वस्तु देने को नहीं है तो वह क्या करे ? लेकिन दी जाने वाली वस्तु की उसको जरूरत नही है तो वह शान्त भाव से उसे ले ही नही। आप बाजार मे जाते हैं—अलग-अलग दुकानदार अपनी-अपनी दुकान की वस्तुएं आपको दिखाते हैं। कपड़े वाला कहेगा—यह एकदम नई डिजाइन है। जूतों की दुकान वाला कहेगा—लीजिये, एक जोड़ी दूं या दो जोडी जूते दूं—बहुत टिकाऊ है। क्या उस वक्त में वह बात सुनकर आप उत्तेजित हो जायेंगे ? और यदि हो जायेंगे तो क्या हास्यास्पद दृश्य नही खडा हो जायगा ? वैसे ही साधक यह सोच लेता है कि उसने मूंछ उखाडने की बात कहकर द्वेष जगाने की कोशिश की है, लेकिन उसकी दुकान मे द्वेष ही है तो वह द्वेष बता रहा है। यह द्वेष मुझे नही चाहिये और मै नही पकडूं तो मेरा ही लाभ है। ऐसा मानस बना लेने से वह उत्तेजना का शिकार नही होता है तो द्वेष के बदले द्वेष नही उगलता है। ऐसा अनुभव आप भी करके देखिये—आपके मन को इससे बडी शक्ति मिलेगी और आपके जीवन की शान्ति बनी रहेगी।

कदाचित् आप इस बात को दूसरी दृष्टि से सोच ले। कभी आपके नन्हे-मुन्ने, पोते पोती आपकी गोद मे खेल रहे हो तो खेलते-खेलते कोई बच्चा वास्तव में ही आपकी मूंछ का बाल उखाड ले तो क्या आप बुरा मानते हैं या उस पर गुस्सा करते है ? शायद है खुश हो कि बच्चा कितना चचल है। तो जैसे मूंछ का बाल उखाड देने पर भी उसको बच्चा समझ कर आप छोड़ देते हैं, वैसे ही अद्वेष की भूमिका वाले साधक उसकी मूंछ के बाल उखाड देने की धमकी देने वाले को बच्चे के समान ही अज्ञानी समझ कर सामने वाले पर कोई द्वेष नही लाते है। बच्चा छोटा ही नही, बड़े शरीर वाला भी होता है क्योंकि जिस नादानी के कारण बच्चे को बच्चा समझते है, उसी नादानी और अज्ञान से बडा भी बच्चे के तुल्य हो जाता है।

ग्रत· केवल मन की विचारणा को वदल लें तो द्वेष टिकेगा भी नही, वल्कि पैदा भी नही होगा। अद्वेष वृत्ति को धारण कर लेने से व्यर्थ की उत्तेजना नही होगी और उत्तेजना नही होगी तो शान्त भाव से अपने जीवन का हित-अहित भलीभाति सोचा जा सकेगा।

अद्वेष वृत्ति जगाने के उपाय :

द्वेष जनित उत्तेजना का अन्त एक स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक माना गया है क्योकि द्वेष के वशीभूत होने के वाद उसके कारण जो उत्तेजना पैदा होती है, उसमे व्यक्ति अपने जीवन के हिताहित का भान भूल जाता है। उसे अपने कर्त्तव्यो का भी खयाल नही रहता। जो कार्य कर रहे है—वह भला है या बुरा, इसका भी वह चिन्तन नही करता है। वह इस वात को सोच नही पाता कि जिस कारण मै किसी को उत्तेजित अथवा तिरस्कृत करना चाहता हू तो वह मेरी चेष्टा मेरी ही हानि करने वाली है। इस चेष्ठा से स्वय का भी अहित होता है तो सामने वाले व्यक्ति का भी अहित होता है।

अद्वेष वृत्ति का महत्त्व इस रूप मे हृदयगम करना चाहिये कि द्वेष के चक्र मे न गिरे तथा किसी रूप मे द्वेष की भावना आ भी जावे तो उसका शमन करे एव द्वेष जनित उत्तेजना से वचे। ऐसी उत्तेजना के समय वृत्ति एव प्रवृत्ति मे शान्ति वनाने का प्रयास करना चाहिये। यह सोचना चाहिये कि सामने वाला व्यक्ति जो उत्तेजनात्मक वाते कर रहा है, वह वडे शरीर के साथ अपने अज्ञान के कारण वच्चा ही है और वच्चे की किसी नादानी पर गुस्सा नही किया जाना चाहिये। इस प्रकार की भावना यदि अतकरण मे मजवूत वन जाती है तो वैसा साधक चाहे दुनिया कुछ भी कहे या कैसा भी व्यवहार करे, सव शान्त भाव से सहन करता है और द्वेष को किसी भी रूप मे पनपने नही देता है। ऐसी अद्वेष वृत्ति के निर्माण के वाद ही वास्तविक रीति से आत्म-शान्ति का उदय होता है।

लेकिन ऐसी विचारणा मस्तिष्क मे कव आयगी ? इसके लिये उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है और वैसा वातावरण आपको सन्तो के समीप मे मिलेगा, क्योकि वहा जीवन स्वरूप आत्मचिन्तन तथा आत्मा द्वारा होने वाली प्रवृत्तियो के विज्ञान के विषय मे शान्ति प्रदायक ज्ञान प्राप्त होता है। सन्त समागम के समय ही यह भी जानकारी मिलती है कि पुण्य-पाप आदि कर्मो का वध आदि कैसे होता है, मनुष्य जीवन कैसे पुण्यो के फल-स्वरूप मिलता है और वेदनीय कर्म के क्या फलाफल भुगतने पडते है ? इन

ज्ञान के फलस्वरूप उसके चिन्तन का क्रम चलता है कि मैं समृद्धिशाली हूं
सुख का अनुभव कर रहा हूं—यह मेरे साता वेदनीय कर्मों का उदय है। प
मैंने ऐसे कर्म उपार्जित किये, इसलिये ऐसा शुभ फल मिला और यदि ऐसे
का फिर उपार्जन करूंगा तो आगे भी सुख शान्ति पूर्ण जीवन की उपल
होगी। इसके विपरीत यदि अशुभ कर्मों का बंधन होता है तो आत्मा को
उनका कष्टप्रद अशुभ फल भुगतना पड़ता है एव आज भी अशुभ कार्यो
फिर अशुभ कर्मों का बधन किया जायगा तो आगे भी कष्टप्रद अशुभ
भुगतना पड़ेगा। इसलिये मै पूर्व कर्मों का कैसे क्षय करूं तथा वर्तमान मे
बंधन से कैसे बचूं ताकि आत्मा का स्वरूप स्वच्छ बने एव उसका पि
विकास हो।

इस चिन्तन क्रम से अद्वेप वृत्ति का समुचित रूप से जीवन मे वि
हो सकेगा। इस विकास के साथ ही जीवन मे आत्म-शान्ति का अनुभव
होने लगेगा। आत्मशान्ति की अभिवृद्धि एव उसका सर्वोच्च विकास ही सा
जीवन का लक्ष्य होता है।

किसी के प्रति अरुचि भी द्वेष है :

आत्मोत्थान एवं आत्मशान्ति के विषय के प्रति जो अरुचि दि
या रखी जाती है, वह भी एक प्रकार से द्वेप का ही एक रूप है। इस प्र
के द्वेप के कारण अपने आपके सही स्वरूप को समझने की जिज्ञासा नही ह
है तथा मन मे उमग भी नही होती है कि मैं जीवन विकास सम्बन्धी नि
तो प्राप्त करूं। यह तो जानू कि जो मनुष्य जीवन जी रहा हूं, वह कैसा
और वह कैसा बनाया जाना चाहिये ?

कोई भी तत्त्व हो उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान आवश्यक होता है
मूल को जाने बिना उसके विस्तार की सही समीक्षा नही की जा सकती है
जीवन के मूल तत्त्वो के प्रति ज्ञान की रुचि होती है तभी अद्वेष वृ
का रूपक भी समझ मे आता है। डॉक्टर लोग भी कई इलाजों को प्र
पर छोडते है। अग काट देना उनके हाथ की बात होती है, मगर शरीर
घाव को भरना उनके हाथ मे नहीं है। आप सोचते होंगे कि डॉक्टर न
घाव भर देता होगा, लेकिन ऐसा नही है। वह तो घाव पर दवा लगा
और पट्टी बांध कर छोड देता है, फिर अन्दर का यंत्र याने प्रकृति [illegible]
करती है और घाव भरता है। घाव भरने की प्रक्रिया शरीर के भीतर
होती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रचियो का निर्माण—यह भीतर की [illegible]

और मनुष्य के अपने हाथ की बात है, अगर वह भीतर को समझकर कार्य करता है। भीतर के तत्त्वो को समझने के प्रति तीव्र अभिरुचि जागे तो समझना चाहिये कि यह अद्वेष वृत्ति का ही विकास हो रहा है।

केवल क्रोध करने को ही द्वेष नही कहा है, लेकिन क्रोध के स्वरूप तथा उसके कारणो को नही समझना एव उस समझने के प्रति रुचि भी नही रखना—यह भी द्वेष है। आप कहेगे कि यह कैसे है? हम नही समझे तो द्वेप कैसे हो गया? जानते है, कोई भी व्यक्ति उदास कैसे होता है? जब सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार मे उसके प्रति कोई रुचि नही दिखाई देती है और वास्तव मे किसी के प्रति रुचि नही जागती है—उसका मतलब ही यह होता है कि उसके प्रति द्वेप की भावना है—यह हो सकता है कि वह भावना अप्रत्यक्ष होती है। इसी प्रकार किसी ज्ञेय तत्त्व के प्रति रुचि नही है अथवा अरुचि है तो यह उस तत्त्व के लिये परोक्ष द्वेप ही कहलायगा। किसी की उपेक्षा कौन करता है? वही जो उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिपक्षी होता है। प्रतिपक्षी के मन मे जो द्वेप होता है, वही बाहर उपेक्षा के रूप मे प्रकट होता है। अरुचि उपेक्षा का ही एक रूप होती है। और जब ऐसी ही अरुचि या उपेक्षा तत्त्व का ज्ञान करने के प्रति होती है तो वह द्वेप का ही एक रूप होती है और जब तक द्वेप का यह रूप भी सक्रिय रहता है तो अद्वेप वृत्ति का सम्पूर्ण विकास नही हो सकता है।

आत्मिक तत्त्वों के प्रति रुचि जगाइये :

कभी किसी को सम्बोधन किया जाता है कि अब तो आत्मिक तत्त्वों का ज्ञान करो, सन्तो का सयोग है तो कई लोग हाँ-हाँ करते रहेगे, लेकिन उस तरफ चेष्टा नही करेगे बल्कि कह देगे कि अभी तो बहुत जिन्दगी पड़ी है, जल्दी क्या है? मै पूछू कि कितनी जिन्दगी पडी है—कितने वर्ष बाकी है, जानते हो क्या? तो कह देगे कि अभी तो चातुर्मास शुरू ही हुआ है और यह चातुर्मास तो पाच महीनो का है जो सारा का सारा पड़ा हुआ है। यह नही सोचते कि वह सावधानी भी क्या काम की—जो अरुचि के साथ चल रही हो? आत्मिक तत्त्वो के ज्ञान के प्रति ऐसी अरुचि अच्छी बात नही होती है।

आप लोगो की रुचि आत्मिक तत्त्वो के प्रति नही होती है क्योंकि वह रुचि धनोपार्जन मे और सासारिकता की तरफ लगी हुई है। ऐसे ही एक गभीरमल सेठ थे। उनको सेठाई ज्यादा प्यारी थी और सम्पत्ति के गर्व मे वे फूले फिरते थे। उनके गोदामो मे सोने के पाट भरे हुए थे। लोग उनको

कहते थे कि यह सम्पत्ति पहले की पुण्यवानी से मिली है लेकिन धर्म के प्रति उदासीन मत रहो—यह तुम्हारे लिये हितकर नही है। तो सेठ ... आप चिन्ता न करे, अपने गुरुजी कहते है कि अन्तिम समय ... परिणाम आये तो सारी जिन्दगी सुधर जायगी, इसलिये अन्तिम समय ... भाव ले आऊंगा। अभी की कोई चिन्ता नही। लोगो के बहुत बार ... पर एक बार सेठ सन्तों के पास चला गया। सन्तो ने पूछा—सेठजी, ... सम्बन्धी क्या चिन्तन चलता है ? सेठ का वही उत्तर था कि मैं ... अभी बहुत जिन्दगी पड़ी है। महात्मा जरा अनुभवी थे, वे समझ गये कि सेठ इस तरह नही समझेगा।

महात्मा ने कहा—देखो सेठजी, एक मजदूर था जिसको तालाब की निगरानी के लिये रखा गया, उसने तालाब के किनारे एक घासफूस की झोंपड़ी बना ली और अपना काम करने लगा। वह झोपड़ी उसके लिये महल के समान थी मगर उसकी पत्नी ने उसको चेतावनी दी कि अब वर्षा ऋतु आने वाली है और तालाब के पानी के बढ़ जाने से झोपड़ी तथा उसके साथ अपनी जिन्दगियां खतरे मे पड़ जायगी सो पानी आने से पहले आगे किसी ... पर चले जावे। उसने कहा—देखो, मै सावधान हूं, तुम चिन्ता मत करो। बार-बार कहने पर भी वह नही माना।

एक दिन अचानक बादल घिर आये और इतना पानी बरसा कि सारा तालाब पानी से भर गया। झोपडी और झोंपडी का सामान भी पानी में डूब गया। वे मजदूर पति और पत्नी बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा पाये। यह सुनाकर महात्मा ने सेठ गंभीरमल से कहा—'सावधान हूं, सावधान हूं' कहते-कहते भी सब कुछ डूब गया। आप कुछ समझे या नही ? इसी तरह एक भाई ने सोचा कि अभी क्या जल्दी है, जब प्यास लगेगी तो कुआ खोद कर पानी पी लेंगे और एक किसान ने सोचा कि अभी क्या जल्दी है, जब भूख लगेगी तभी फसल तैयार कर लूंगा। अब बताओ सेठजी कि इन तीनों मे ज्यादा चतुर कौन था ? सेठ ने कहा—महाराज, तीनो मूर्ख थे। तब महात्मा ने कहा—सेठजी, जरा ध्यान से सोचो कि क्या आप भी कहीं इन तीनो जैसे तो नही है ? अभी तुम्हारे पास सम्पत्ति है, अवस्था है पर कुछ भी धर्म कार्य नही कर रहे हो और कल जब सब डूब जायगा, तब क्या कर पाओगे ?

मेरे भाई-बहिन समझते है कि अभी तो बहुत जिन्दगी पड़ी है

भी से क्या धर्मकरणी करें—अभी तो गुलछर्रे उडाने दो। यह सोचना अच्छा नहीं है, यह धर्म के प्रति अरुचि का परिचायक है।

समयं गोयम मा पमायए :

महावीर प्रभु का सन्देश है कि—

परिजुराई ते सरीरयं, केसा पडुंरया हवन्ति ते।
ते सव्व बले य हायई, समयं गोयम, मा पमायए॥

हे भव्य, तू अभी यौवन मे मंडरा रहा है, लेकिन जब शरीर जीर्ण होने लगेगा और केश पांडु रग के हो जायेंगे तब क्या करेगा? पानी आने से पहले पाल बांधना जरूरी है। इसलिये बुराइयों को छोडने मे और अच्छाइयों को अपनाने मे समय मात्र का भी प्रमाद नही किया जाना चाहिये। आग लगेगा तब झोंपडी हटायेंगे, प्यास लगेगी तब कुआ खोदेंगे और भूख लगेगी तब फसल उगायेंगे—ये सब विचार अविवेकपूर्ण हैं।

आत्मिक तत्त्वो का इस रूप मे जब ज्ञान मिला तो सेठ गंभीरमल के मन की खिडकियां खुल गई। उसने धर्म के प्रति अपनी अरुचि की असलियत को समझी तथा जागृत बनकर उसने अपनी अभिरुचि को भी जगा ली। उसने महात्मा के सामने प्रतिज्ञा की कि वह इस द्वेष भाव को मिटाने मे अब क्षण मात्र का भी प्रमाद नही करेगा। लेकिन आप अपने लिये भी विचार करें। क्या आप बाहर से भी सो रहे हैं और भीतर से भी सो रहे हैं? अथवा बाहर से जाग रहे है, लेकिन भीतर से सो रहे हैं? ध्यान रखिये कि भीतर से जागना ही सच्चा जागना है। मोह मे सोया हुआ व्यक्ति अपना हिताहित नही देख सकता है और ऐसे सोने का नाम प्रमाद है। भगवान् ने इसी प्रमाद को एक क्षण के लिये भी नही करने का निर्देश दिया है, लेकिन जिनका सारा जीवन ही प्रमादग्रस्त हो रहा है, क्या वे भगवान् की सच्ची भक्ति कर रहे है?

ऐसे व्यक्ति को सोया हुआ कहे या जागता हुआ, जो बैठा तो धर्मस्थान मे है, लेकिन कल्पना कर रहा है कर्मस्थानों की, जिम्मेदारी लेता है नैतिकता की लेकिन काम करता है अनैतिकता के तथा प्रण तो कर लेता है सत्य बोलने का लेकिन ऐसी प्रतिष्ठा जमा कर असत्यता से काम करता है? ये सब द्वेष वृत्ति की बातें हैं, अद्वेष की नहीं। मन में अद्वेष वृत्ति को अपनाना है तो मन का समुचित रीति से नियन्त्रण साधना होगा।

मन की राजधानी फैली हुई है। इसलिये पहले छोटे-छोटे गावों पर नियंत्रण करने का विचार कीजिये। ये कान आदि इन्द्रिया अपने मन की तरह के गांव है। उनमे यदि द्वेप के शब्द सुनाई दे तो आप उन पर ध्यान मत दीजिये। यदि ध्यान देगे तो द्वेप की बात राजधानी मे पहुचेगी। इसी तरह नेत्र, जीभ आदि बाहरी इन्द्रियो पर नियंत्रण रखना सीखिये ताकि मन ज्यादा डोलायमान न बने—मन में द्वेप गहरा न हो पावे। जागृत आत्मा तब रहे हुए द्वेप भाव को मिटाने के लिये प्रयत्नशील बनेगी।

द्वेष पर विजय पाइये :

छोटी-छोटी कमजोरियों पर अपना नियंत्रण करलें तो बड़ी-बड़ी बुराइयो को भी जीत सकेंगे। इस आत्मघाती द्वेप को जीतना ज्यादा कठिन नही है। इन्द्रियो पर अपना नियत्रण करे—मन को वश मे रखें तो द्वेप को आसानी से जीत सकते है। आपने उपवास पच्चक्ख लिया और मन चाहने लगा कि सामने दीख रहे बढिया-बढिया पदार्थों का स्वाद लू तो आप मन पर नियंत्रण कीजिये। इसी तरह मन की डोरी हर जगह मजबूती से पकड़े रहेगे तो राजधानी पर विजय प्राप्त कर लेगे और उस पर आत्मा के निज स्वरूप की ध्वजा लहरा सकेंगे।

जब चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य दोनो सयुक्त हुए तो उन्होंने नन्द की राजधानी पर अपना झडा फहराने का निश्चय किया और सीधा राजधानी पर आक्रमण कर दिया। तब उन्हे मुंह की खानी पड़ी। जगल मे एक बुढ़िया से उनको शिक्षा मिली कि गरम-गरम राबडी के बीच मे हाथ डालने से हाथ जल जाता है, उसे किनारे-किनारे से खानी चाहिये। तब उन्होने नन्द के राज्य के किनारे-किनारे के गावो को हस्तगत करना शुरु किया और उसके बाद राजधानी पर भी अपना अधिकार जमाने में सफल हुए।

इसी प्रकार केन्द्र रूपी मन पर अपना अधिकार करना है तो पहले छोटे-छोटे गावो पर अधिकार करें और इन्द्रियो पर निग्रह करते हुए फिर केन्द्र रूप मन का निग्रह करे। आत्मघाती द्वेप को जीतें और आगे बढ़ें तो बड़ी-बड़ी बुराइयो को भी जीत सकेंगे तथा मन के केन्द्र मे अभय, अद्वेष एवं अभेद की पवित्र वृत्तियो का विकास कर सकेंगे। नियमित मन आत्मा की शुद्धता का प्रतीक बन जाता है।



अखेद वृत्ति : आनन्द की धारा

सभव देव ते धुर सेवो सवेरे,
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिका रे,
अभय, अद्वेष, अखेद ।।सभव।।

प्रभु के चरणो मे प्रार्थना की पंक्तियो के माध्यम से अन्तःकरण के भावो को प्रकट कर रहे हैं। इस समय इस जीवन से सम्बन्धित तत्त्वो को यदि भली प्रकार से समझले और आगे की स्थिति को सुदृढ बनाले तो जीवन मे वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। इस जीवन की सार्थकता इसी मे रही हुई है कि वास्तविक सुख शान्ति का रसास्वादन किया जाय।

मनुष्य शरीर के भीतर मे और मनुष्य जीवन की आन्तरिकता मे जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व छिपे हुए हैं, वे सारे ससार के अन्दर श्रेष्ठ हैं। मनुष्य कभी छिपे हुए खजाने को खोजने के लिये बहुतेरे प्रयत्न करता है, कभी कुछ प्राप्त कर लेता है तो उसकी सार-सम्हाल की चिन्ता भी पैदा हो जाती है। गडे धन की सुरक्षा हेतु वह सरकार से और सभी लोगो से भयभीत सा बना रहता है कि किसी को उसका पता न चल जाय। इस प्रकार जड पदार्थों की उपलब्धियो मे मन मस्तिष्क के साथ चिन्ता का भार जुड जाता है जिससे एक तरह की परेशानी और थकान सी महसूस होती है।

यह जो थकान है उसे ही खेद कहते है थकान से पैदा होने वाला दुःख कहलाता है। खेद के कारण मनुष्य चिन्ता, कष्ट और अशान्ति का अनु-

भव करता है अतः खेद की मनोदशा भी समाप्त की जानी चाहिये और [illegible] की वृत्ति का विकास किया जाना चाहिये जिससे आनन्द की धारा बहे।

चिन्ता-चिता से भी बढ़कर

संसार में एक के पीछे एक चिन्ता मनुष्य के मस्तिष्क पर सवार होती रहती है, जिससे वह खाता पीता हुआ भी मजबूर होता हुआ चला जाता है। फिर भी वह चिन्ता के चक्र को छोड़ नहीं पाता है। क्या आप जानते हैं कि चिन्ता और चिता में कितना अन्तर होता है ? केवल एक अनुस्वार का अन्तर है। 'चिंता' पर से अनुस्वार हटादें तो वही शब्द चिता बन जाता है, मगर हकीकत में भी यह चिन्ता ऐसी होती है जो मनुष्य को थका देती है और थका कर एक तरह से चिता पर सुला देती है। एक मुर्दा लाश की चिता होती है जिसके चारों ओर लकड़िया रखकर उसे जलाने की कोशिश की जाती है, मगर दूसरी चिन्ता मे खेद प्राप्त कर रहे व्यक्ति की चिता होती है जो बिना लकड़ियो के और बिना श्मसान के जलती रहती है। इससे शरीर और मन दोनो की भारी क्षति होती है।

चिन्ता और चिता को एक समान कहा गया है लेकिन कभी कभी चिन्ता चिता से बढ़कर बन जाती है। चिता तो मुर्दे शरीर को ही जलाती है लेकिन चिन्ता की ज्वाला मे मनुष्य अपने शरीर को ही नही, अपने समूचे जीवन को इस तरह जलाता रहता है कि जीवन का सारभूत तत्त्व ही नष्ट होता रहता है। ऐसी चिन्ता मे भी मनुष्य ऊबे नही और चिन्ता का पल्ला छोड़े नही तो मनुष्य की इस खेदकारी प्रवृत्ति को क्या कहे ? यह मनुष्य अपने ही जीवन और अपने ही हिताहित के प्रति भी कितना बेभान बन जाता है ?

सांसारिकता मे अपने मन को रचा पचा कर चलने वाले मनुष्य को जितना धन और वैभव मिला है, उसकी सुरक्षा की चिन्ता जरूर सताती है, तथा यह धन और वैभव और मिलता रहना चाहिये और बढ़ता रहना चाहिये उसके लिए चिंतित बना रहता है फिर चाहे उसकी की जाने वाली चिन्ता से वह अपने जीवन का ही अन्त क्यों न कर ले। पर ऐसी चिन्ता का अभ्यास उस को जबरदस्त हो गया है—जैसे उसने उसको थकान ही नही आती। मनुष्य के मन की वृत्तिया मोह तथा ममता मे इतनी ग्रस्त हो रही है कि वह [illegible] मे ८ १० मील चलकर आया हो, बदन दर्द कर रहा हो मगर उस समय कोई आकर सूचना दे कि यहां से ४-५ मील की दूरी पर उसके मकान में [illegible] मोहरों का चरू निकला है तो वह उस शारीरिक थकान को भी [illegible] जायगा और [illegible] भागता-भागता पहुँच जायगा।

यह विभ्रमपूर्ण अवस्था है कि इन सांसारिक विषयो में मनुष्य खेद या दुख का अनुभव नही करता है, जब कि इस विभ्रमपूर्ण अवस्था मे वह सच्चे जीवन-पथ से दूर भटकता जाता है। यह मनुष्य की बेभान जैसी अवस्था होती है।

धर्मकार्य में खेद क्यो :

विडम्बना की बात यह है कि मनुष्य को जहा खेद मानना चाहिये, वहा तो वह खेद नही मानता और जहा अखेद रहना चाहिये, वहा उसे खेद का अनुभव होता है। सासारिक विषयो मे वह खेद या थकान का अनुभव नही करता। कटीली झाड़ियो और बीहड जगल के रास्तो पर चलने से काटे लगते है, खून की धाराए बह जाती है, मगर सोने की मोहरो का चरू मिलने वाला है तो वह इन सब कष्टो मे भी खेद का अनुभव नही करता।

लेकिन इसके साथ ही धर्म के क्षेत्र मे उसकी विपरीत वृत्ति दिखाई देती है। इस क्षेत्र मे कार्य करते हुए कभी थकान नही आनी चाहिये—कोई खेद नही होना चाहिये और ऐसी वृत्ति को ही अखेद वृत्ति कहते है। यदि धर्म के क्षेत्र मे अखेद वृत्ति का विकास हो जाय तो इन्सान निहाल हो जाय और वह भगवान की भक्ति का रहस्य जान ले। लेकिन उसका मतिभ्रम ऐसा होता है कि धर्म के क्षेत्र मे तनिक सा चलते ही उसे खेद का अनुभव होने लगता है। इस प्रार्थना की पक्तियो मे प्रभु की सेवा करने के प्रसग मे तीन गुणो के विकास का उल्लेख किया गया है और वे गुण है अभय, अद्वेष तथा अखेद। यहा अखेद गुण पर कुछ विचार किया जा रहा है।

मनुष्य को इस यथार्थ पर गहराई से विचार करना चाहिए तथा इस विडम्बना से पीछा छुडाना चाहिये। इसके लिये उसको जहा सासारिक विषयो मे खेद मानना है, वहा खेद मानकर उनसे यथासाध्य निवृत्ति लेनी चाहिये तो आत्मिक साधना मे उसे पूर्णत अखेद की वृत्ति के साथ लगना चाहिये। परमात्मा की आज्ञा मे चलते हुए मनुष्य को कभी खेद नही होना चाहिये। कितना ही कष्ट आवे, कितनी ही विपत्तिया सतावे अथवा कितनी ही आधिया क्यों न उठे—धर्म और प्रभु के मार्ग को कभी नही भूलना चाहिये। आत्मीय भावो मे रमण करते तथा आत्मीयता के साथ आगे बढते समय तो कभी भी खेद का अनुभव ही नही होना चाहिये। यही चिन्तन चलना चाहिये कि इस समय मै कभी भी थकने वाला नही हूं। ऐसी अथक या अखेद वृत्ति धर्म के क्षेत्र मे सदा बनी रहनी चाहिये।

अधिकांश भाई बहिन थोड़ी सी कोई धार्मिक क्रिया करते है या
थोड़ा सा अध्ययन-चिन्तन कर लेते है तो बडी थकान सी महसूस करने लग
जाते है । लगातार चार रोज तक यदि दयाव्रत रखने को कहा जाय तो क्या
आप करने को तैयार है ? एक रोज के लिये भी कुछ विशेष आग्रह करना
पड़ता है । धर्म दलाली करने वाले दलाली करते है, उनके तो दलाली की
पुण्यवानी बंधती ही है, लेकिन जिनको वे धर्मध्यान मे लगाते है, उसका फल
उन्ही को मिलता है । वह व्यक्ति भी यदि दयाव्रत रख लेता है या पौषध
करता है तो उसको भी महान् फल प्राप्त होता है। कदाचित् नही करता है तो
दलाली का फल तो कही नही जाता है । धर्म दलाली करते हुए कभी खेद
महसूस नही करनी चाहिये । कोई यह सोचे कि मै तो लोगो को बहुत कहता
हूं—कागज लेकर सूची बनाने को खड़ा रहता हू, फिर भी लोग नाम नही
लिखाते हैं। मुझे क्या करना है मै बार-बार उन्हे क्यो कहूं, ऐसा उसको नही
सोचना चाहिये । ऐसा विचार यदि आता है तो माने कि हृदय मे अभी तक
अखेद वृत्ति ठीक तरह से पनप नही पाई है ।

खेद कहां होना चाहिये :

धर्म की दलाली करते समय ही खेद का अनुभव क्यो होता है ?
धन की दलाली करते वक्त तो खेद का अनुभव नही होता । दो चार व्यापारी
अगर अमुक दलाल से दलाली कराना छोड़ देते है तो क्या वह दलाल अपने
धंधे को छोड कर बैठ जाता है ? वह यही सोचता है कि मेरे अन्तराय कर्म
का उदय है जिसके कारण दस व्यापारियो के पास गया तब भी दलाली नहीं
मिली । लेकिन पूरा प्रयत्न करने से आज नही तो कल अवश्य ही मिलेगी
इस विश्वास के साथ वह आर्थिक क्षेत्र में जुट जाता है। यदि इसी तरह धर्म
के क्षेत्र मे भी जुट जावे तो क्या वहां आनन्द की धारा प्रवाहित नहीं हो
जायगी ? धन और वैभव के उपार्जन मे तो मनुष्य को खेद का अनुभव होना
चाहिये कि सामान्य आवश्यकताओं के अनुसार उपार्जन कर लेने के बाद
जावें और तृष्णा के चक्कर मे नहीं पडे । दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र मे चाहे
स्वयं धार्मिक क्रियाएं करें, चाहे धर्म दलाली करे अथवा दोनो प्रवृत्तियां साथ
वहां खेद की भावना ही नही आनी चाहिये । मनोवृत्ति का उस रूप मे जब
विकास हो जाता है, तब कहा जा सकता है कि हृदय मे अखेद वृत्ति समा-
विष्ट हो गई है ।

अखेद वृत्ति एक अमूल्य रत्न के समान है । ये आदर्श रत्न मनु

के पास कितने समय तक रह पाते हैं—इसका आप लोगों को विज्ञान है। लेकिन धर्म करणी मे थकेला नही है, धर्म दलाली मे थकेला नही है तो समझना चाहिये कि मन मे अखेद वृत्ति का गुण-रत्न प्रकाशित हो उठा है। मनुष्य सोच नही पाता कि वह रोजाना जो भोजन करता है, क्या वह नित नवीन होता है ? मामूली अन्तर या उलट-पुलट भले ही करले—करीब-करीब वे ही रोटिया और वे ही सब्जिया हमेशा काम मे लेते है। फिर वही रोज का रोज खाते हुए आप को थकान क्यो नही महसूस होती है ? थकान तो दूर रही—रोज सुबह नाश्ते की याद आ जाती है, फिर यथासमय भोजन की भी इच्छा हो जाती है। जब भोजन करते-करते थकेला नही आता, व्यापार करते-करते थकेला नही आता, ससार की अवस्था का सेवन करते-करते थकेला नही आता, तो फिर धर्म करणी करने के वक्त पर ही थकेला क्यो महसूस करने लग जाते हैं ?

यदि आपको कहा जाय कि अब तो वृद्धावस्था आ गई है सो ससार के विषयो से निवृत्त हो जावे, बाल-बच्चे होशियार हो गये हैं सो धर्म-ध्यान की स्थिति मे लगे, तब जल्दी ही आप धर्म-ध्यान की स्थिति मे थकेला महसूस करने लग जाते है। और बात तो दूर रही—कइयो को तो शायद प्रवचन सुनते सुनते भी थकेला महसूस होने लगता है और नीद आ जाती है। यह विषय-वृत्ति है। है कोई त्याग करने को तैयार कि अब सासारिक कार्यो मे थकेला महसूस करने लग जायेंगे ? क्यो सांडजी, त्याग करा दू ? साडजी तो तैयार है, लेकिन एक साडजी से ही क्या कहू ? मेरे बहुत वृद्ध भाई यहा पर बैठे हुए हैं, जिनको उनके बेटे-पोते कहते रहते है कि आप आराम करो, फिर भी वे जबरदस्ती जाकर व्यापार आदि कार्यो मे भाग लेते है। उनको वहा पर थकेला नही आता, लेकिन धर्म कार्यो मे उनको थकेला आ जाता है—सामाजिक या लोकोपकारी कार्यो मे भी थकेला आ जाता है। ऐसी विपरीत वृत्ति शोभनीय नही कहलाती है।

जहां खेद करना चाहिये, वहा खेद नही और जहा खेद होना ही नही चाहिये, वहा जल्दी ही खेद का अनुभव होने लगे तो उसको विपरीत वृत्ति ही कहेगे। इसलिये अखेद वृत्ति के यथार्थ रूप को समझ कर इस गुण के विकास हेतु आत्मशक्ति का नियोजन किया जाना चाहिये।

अखेद वृत्ति का द्योतक : आत्मबल :

यह विपरीत वृत्ति इसलिये है कि मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप को ही नही समझता है। उसने अपने जीवन का मूल्यांकन ही नही

किया है। जितना वह धन और वैभव का महत्त्व समझ रहा है, उसकी तुलना में जीवन तथा आत्मिक उन्नति का वह कोई महत्त्व नही समझता। जिसके जीवन का मूल्यांकन नहीं तो वह अपनी आत्मा और उसके गुणो का मूल्यांकन कैसे कर सकेगा? उस दृष्टि से उसके मन में अखेद वृत्ति का सही मूल्यांकन भी कैसे उपजेगा?

आज मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी है कि दस रुपयो के लिये वह दिन भर गर्मी मे दस कोस की दौड़ लगा लेगा शरीर की भी परवाह नही करेगा इतना आकर्षण पैसे के प्रति उसके मन मे है। इससे आधा आकर्षण भी यदि धर्म और आत्मा के प्रति हो जाय तो यह आत्मा बलवती बन जाय। फिर चिन्ता होगी ही नही और इसके स्वरूप का व्यर्थ मे विकृत होना रुक जायगा लेकिन अखेद वृत्ति को पनपाने के लिये आत्मबल बनाना पड़ेगा। शरीर चाहे कितना ही हृष्टपुष्ट क्यो न हो—यदि उस व्यक्ति में आत्मबल नही है तो उस के जीवन मे निडरता नही आ सकेगी। वह आध्यात्मिक जीवन की शक्ति तो प्राप्त ही नही कर सकेगा, किन्तु आत्मबल के अभाव मे शारीरिक शक्ति को भी सही तरीके से उपयोग मे नही ले सकेगा।

अजीतगढ में बहादुरसिंह नाम का एक बहुत बड़ा पहलवान रहता था। उसको अपनी शारीरिक शक्ति का बडा घमड था। उसकी रोज की खुराक भी बहुत ज्यादा थी। एक रोज ऐसा संयोग बना कि पूना का एक पहलवान वहां पहुंच गया। उसका शरीर उसके मुकाबले काफी पतला और हल्का दिखाई दे रहा था। वह नरेश के पास गया और कहने लगा कि अजीतगढ़ मे अगर कोई पहलवान हो तो वह उससे कुश्ती लडना चाहता है। उसने नरेश को पदक और प्रमाण पत्र बताये तथा निवेदन किया कि अगर वह हार जायेगा तो सारे पदक और प्रमाणपत्रो को नरेश को समर्पित कर देगा तथा जीत जावे तो नरेश उसे अवश्य सम्मानित करे।

नरेश ने तुरन्त बहादुरसिंह को बुलवाया और कुश्ती लड़ने को कहा। यह भी कहा कि वह रियासत की प्रतिष्ठा बनाये रखे। बहादुरसिंह ने घमंड से कहा यह मुझे क्या हरायेगा? दोनों पहलवान अखाडे मे उतरे। बहादुरसिंह थोड़ी देर तक लड़ने के बाद पस्त हो गया। बहादुरसिंह हक्का बक्का रह गया कि वह कैसे हार गया? वह चिन्ता मे पड़ गया। एक दिन एक विद्वान आचार्य धर्म का प्रचार करते हुए अजीतगढ पहुंचे। जनसमुदाय के साथ बहादुरसिंह भी वहां पहुंचा। प्रवचन समाप्त हो जाने के बाद उसने आचार्य से

अपनी जिज्ञासा का समाधान करने का निवेदन करते हुए कहा कि मैं जिन्दगी मे कभी नही हारा, फिर उस पूना के दुवले-पतले से पहलवान से क्यो हार गया ? महात्मा ने एक गहरी दृष्टि पहलवान पर डाली और वताया-भाई, तुमने शरीर को तो वलिष्ठ वनाया लेकिन शरीर की महत्त्वपूर्ण शक्ति को कमजोर ही रखदी ? उस जीवन की दो विशेपताएं है-एक तो दीखने वाले शरीर के वल की विशेपता-दूसरी विशेपता इस शरीर का सचालन करने वाले उस महत्त्वपूर्ण तत्त्व की शक्ति की है जिसको आत्मा कहा जाता है एव दोनो शक्तियो मे आत्मशक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । यह आत्मा ही सोचती है कि मैं अमुक पहलवान को पछाड़ सकता हूं, शरीर नही सोच सकता है । इस कारण जीवन का तथा जीवन के गुणो का मूल्यांकन भी आत्मशक्ति के द्वारा ही हो सकता है ।

महात्मा ने वहादुरसिंह पहलवान को सम्वोधित करते हुए कहा—भाई, तुम चिन्तन करो । कदाचित् तुम्हारे सामने एक पहलवान का मुर्दा शरीर पडा हो तो क्या वह मरा हुआ पहलवान कभी सोच सकता है कि वहादुरसिंह को हराना है अथवा क्या तुम सोच सकते हो कि मैं मुर्दा पहलवान को हरा दूं ? नही ऐसा नही सोचोगे । अव तुम चिन्तन करो कि यह सोचने वाला कौन है ? वही तत्त्व महत्त्वपूर्ण है जो मुर्दे पहलवान को मुर्दा समझता है तथा जीवित पहलवान को पहलवान समझता है—जीवन को जीवन समझता है और शरीर को शरीर समझता है । वैसा ही व्यक्ति धर्म तथा निज के स्वरूप को भी समझ जाता है । यह जागृत व्यक्ति की आत्मानुभूति होती है । वह अपनी आत्मा को समझता है तो आत्मस्वरूप को पुष्ट करने वाली खुराक भी उसको देता है जिससे उसकी आत्मा वलवती वनती है । ध्यान रखो कि कोई भी केवल शारीरिक दृष्टि से वलवान नही होता है वल्कि मुख्यत आत्मिक दृष्टि से वलवान होता है । जिसकी आत्मा वलवती होती है वह व्यक्ति अपने से पुष्ट शरीर लेकिन दुर्वल आत्म-वल वाले को हरा सकता है ।

महात्मा ने उसको आगे समझाया-जिस पहलवान ने वाहर से आकर तुमको हराया, उसमे आत्मवल की अधिकता थी। शारीरिक वल भले ही उसने कम रहा हो लेकिन आत्मवल से उसने तुमको पछाड दिया । तुम्हारा आत्म-वल जल्दी टूट गया तो तुम्हारा शरीर भी टूट गया तथा तुम तुरन्त पस्त हो गये । तुमने वडी गलती की जो शरीर का वल तो वढा लिया लेकिन आत्मा का वल नही वढाया जवकि आत्मा के वल के विना शरीर का वल [illegible] काम का नही होता है । यदि तुम आत्मिक वल को भी वढा लेते तो [illegible]

में सुहागा हो जाता। तुमने एकांगी दृष्टिकोण रखा तो तुमको [illegible] का मुख देखना पड़ा। अब भी तुम सम्हल जाओ और आत्मिक व पारमार्थिक शक्ति का संचय करके आगे बढ़ो। इस आध्यात्मिक शक्ति से बलवान हो गये तो तुम सारे संसार को जीत सकते हो।

महात्मा की वाणी बहादुरसिंह के मन में समा गई। उसी रोज से उसने दिशा बदली और दिशा बदली तो दशा भी बदल गई। लेकिन बहादुरसिंह की बात मैंने आपके सामने क्यों रखी है? यह बात आपके सामने इसलिये रख रहा हूं कि आप भी अगर चिन्ता से हैरान हैं और उसे जीतना चाहते हैं तो आध्यात्मिक बल को संचित करिये। आत्मशक्ति के विकास के साथ ही अखेद वृत्ति का विकास भी सम्पादित कर लेंगे।

इस आध्यात्मिक बल का संचय कब होगा? जब आप धार्मिक क्षेत्र में धर्मस्थान पर यथासमय पहुंच कर वीतराग वाणी को श्रवण करेंगे तथा उस पर चिन्तन मनन करते हुए अपने जीवन मे धार्मिक दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश करेंगे। इस कार्य मे कभी थकान या खेद का अनुभव नहीं करेंगे तो आपके मन मे एकाग्र वृत्ति का जन्म होगा और इसी अखेद वृत्ति की दृढता से आपकी आत्मा को शक्ति भी मिलेगी और विजय श्री भी प्राप्त होगी।

अखेद वृत्ति के आदर्श : प्रभु महावीर :

भगवान् महावीर ने राज्य सिंहासन के मोह का परित्याग किया तो देवांगना तुल्य अपनी पत्नी के मोह का भी त्याग कर दिया। स्वर्ग के तुल्य परिवार एवं समग्र वैभव की ममता को भी उन्होंने त्याग दी। क्योंकि वे अपनी आत्मशक्ति का तथा अपने आत्मिक गुणों का विकास करना चाहते थे ताकि समस्त विश्व को अपना परिवार मानकर आध्यात्मिक मार्गदर्शन दे सकें। इसी उद्देश्य से जंगल मे तपस्या करने लगे तथा उसमें उनको कितने भारी कष्ट उठाने पड़े — इसका लेखा-जोखा भी क्या कभी आपने लिया है? यदि सभी तेवीसों तीर्थंकरों के साधना-कष्टों को एक तरफ रख दें तो उनसे बढ़-कर अकेले भगवान् महावीर के साधना कष्ट हो जायेंगे। ऐसे कठिन कष्टों के बावजूद भी वे अपनी साधना मे कभी प्रकम्पित नहीं हुए बल्कि अनवरत ही आगे बढ़ते रहे।

महावीर ने भेद किया संसार से जो कि अल्प वय मे ही उन्होंने संसार के समस्त पदार्थों का ही नहीं, संसार के सम्पूर्ण मोह का भी परित्याग कर दिया। दूसरी ओर उन्होंने घोर साधना अपनाई कठिन साधना में [illegible]

भी वे डिगे नहीं, रंच मात्र भी हारे नही, वल्कि सारे आत्म-शत्रुओं को हरा कर अरिहन्त वन गये । इसीलिये तो उनका महावीर नाम पडा । उनके लिये इन्द्र आदि अन्य देवों ने मिलकर महावीर नाम रखा । उनका जन्म का नाम महावीर नही था—जन्म का नाम तो वर्धमान था । यह नाम भी उनके गुणो के कारण पडा । उनका जन्म हुआ तव परिवार और राज्य मे तथा सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे सुख-शान्ति की वृद्धि हुई, इसलिये वृद्धि करने वाले का नाम वर्धमान रखा गया । वाद में अपने सावनामय जीवन मे हर तरह की आपत्तियों और विपत्तियो के सामने वे सदा अडिग रहे—वीर रहे, इस कारण वे महावीर कहलाये ।

आप किसके अनुयायी हैं ? अपने को महावीर के अनुयायी मानते हैं आप ? तो महावीर की वीरता का, अखेद वृत्ति का अनुसरण करना क्यो नही सीखते है ? महावीर ने आध्यात्मिक आराधना करते हुए कभी भी खेद का अनुभव नहीं किया । यह सत्य महावीर के जीवन से ग्रहण कीजिये - उनकी वाणी से अपनाइये । जहा उन्होंने खेद किया है, वहा आप भी खेद लाइये और समझिये कि वहां अखेद रखना आत्मघातक होता है । और जहा उन्होंने निरन्तर अखेद रखा—अथक वृत्ति से चलते रहे, उस आध्यात्मिक क्षेत्र मे आप भी थकान भूल जाइये और अखेद वृत्ति को पनपाइये। फिर आप भी महावीर कहलायेंगे और आप भी महावीर के ही समान आत्मानन्द की पवित्र धारा मे अवगाहन कर सकेंगे ।

अखेद वृत्ति की एक झलक :

अन्याय पर आपको खेद होगा या नही ? कौन जाने ? इसकी परीक्षा धर्म करता है । धर्म कार्यो मे कमी पडने लग जाय तो मेरे भाई वहिन क्या सोचेंगे ? लेकिन सवके लिये एकसी वात नही है । धार्मिक क्षेत्र मे आज भी कई वीर निकल रहे हैं और वीरता दिखा रहे है । चाहे कितनी ही वाधाएं आवें, फिर भी वे वीर भाई वहिन अपनी सुदृढ स्थिति से ही चलने का प्रयास करते है ।

धार्मिक क्षेत्र मे भी तपश्चर्या करना कठिन होता है, लेकिन फिर भी क्या वहिनें तपश्चर्या करना छोड देती हैं ? भाइयो मे भले ही शिथिलता आ जाती हो, फिर भी वहिनें तो अपनी मजबूती से चलती रहती है । उन्हें इस क्षेत्र मे थकान कम महसूस होती है । वे चाहे घरेलू कामो से कितनी ही थक कर चूर हो जावें लेकिन जब घडी से मालूम हो जाता है कि व्याख्यान का

समय हो गया है तो वे यहां पहुंच जाती हैं। बहुत सारी जिम्मेदारियों को निवाहते हुए भी वे धर्म कार्यों से पीछे नहीं हटती है। यह अखेद वृत्ति की एक झलक है।

यदि बहिनो के इस कार्य भार को भाई लोग एक रोज के लिये भी ले लें तो समझ सकते है कि आपकी क्या दशा हो जायगी ? आपके और इन बहिनो के जीवन में आखिर अन्तर क्या है ? आप मूंछ वाले कहलाते है, फिर भी बहिनो से कमजोर साबित क्यों होते है ? यह कमजोरी है भाइयों की खेद वृत्ति की कि उन्हे धार्मिक क्षेत्र की ओर मुड़ने की समुचित रुचि नहीं होती है और यदि रुचि होती है तो थोड़ी ही गति मे थकान आ जाती है। इन बहिनों मे एक दृष्टि से धार्मिक अखेद वृत्ति अधिक मालूम होती है। भाइयो के समान बहिनों को सुविधाएं प्राप्त नहीं होती, फिर भी वे धार्मिक क्रियाओं में आगे बढ़कर भाग लेती है। इस प्रकार की अखेद वृत्ति भाइयो मे भी आनी चाहिये और इस वृत्ति का विकास सभी लोगो मे समान रूप मे होना चाहिये।

अखेद वृत्ति से आनन्द की धारा :

अखेद की वृत्ति मनुष्य में है, लेकिन उसकी गति गलत चल रही है। वह संसार के विषयो मे अखेद के साथ चल रहा है जबकि उसकी अखेद वृत्ति आध्यात्मिक साधना मे सक्रिय बननी चाहिये। अतः मुख्य रूप से अखेद वृत्ति की दिशा बदलने की ही समस्या है। इसकी दिशा इस तरह बदली जाय कि अखेद वृत्ति की गति धार्मिक क्षेत्र मे मुड़े तथा धार्मिक कार्यों मे किसी भी तरह उत्साह की कमी नही रहे। वह उत्साह थके ही नहीं, अथक रूप से कार्यरत बना रहे।

क्या इस दृष्टि से आप भी चलने का अभ्यास करेंगे ? इस अभ्यास के लिये पहले दृष्टि को पूर्ण बना लें तथा अभय, अद्वेष एव अखेद इन तीनो गुणो को संयुक्त बनाकर चलें। यदि इन तीनो गुणो का सम्बन्ध जुड़ जाता है तो असंभव को भी संभव कर दिखाने मे कोई बाधा नही आयेगी। आप लोग आपत्तियों को देखकर होनहार के पीछे भाग जाते है लेकिन होनहार भी अपना ही बनाया हुआ होता है तथा अपनी आत्मिक शक्ति से उस होनहार को भी बदला जा सकता है।

मूल बात यह है कि अभय, अद्वेष एव अखेद वृत्तियों का अपने जीवन में विकास किया जाय, उनकी गति मे दिशा का परिवर्तन लाया जाय तथा आत्मा की [illegible] बना ली जाय तो निश्चय मानिये कि आन्तरिक आनन्द की ऐसी अखण्ड धारा प्रवाहित होगी, जो कभी टूटेगी नहीं—रुकेगी नहीं। आनन्द ही आनन्द सारे जीवन में घुल-मिल जायेगा।

घाणी के बैल का चक्कर या छुटकारा ?

संभव देव ते धुर सेवो सवेरे,
लही प्रभु सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिका रे,
अभय, अद्वेष, अखेद ।।संभव।।

इस चतुर्गति ससार मे इस आत्मा ने बहुत कुछ परिभ्रमण किया है। चौरासी लाख योनियो मे इसने कई बार जन्म लिया और उस योनि के सुख-दु.ख का अनुभव किया । इस संसार के चक्कर मे यह अनादि काल से घूम रही है। एक दृष्टि से यह चार गति का एक झूला है और इस झूले मे कभी ऊपर कभी नीचे यह आत्मा झूल रही है । झूलने के साथ ही वह इतनी व्यामोहित वन चुकी है कि इस ससार–परिभ्रमण को ही सारभूत मानने लग गई है।

यह आत्मा इस झूले मे कभी ऊपर पहुचती है, कभी नीचे जाती है तो कभी तिरछी या विचित्र स्थिति मे पहुच जाती है। वास्तविक स्थिति यह है कि जव तक इस परिभ्रमण का अन्त नही आता है, तव तक इस आत्मा को वास्तविक सुख और शान्ति नही मिल सकती है । घाणी के वैल की तरह यह आत्मा इस ससार के चक्कर काटती ही रहती है तथा प्रगति के नाम पर शून्य वना रहता है ।

आत्मा का संसार परिभ्रमण :

घाणी का वैल घाणी के ही चारो तरफ दिन भर गोल–गोल चक्कर काटता रहता है । उसकी आखो पर पट्टा वधा रहता है और वह मन मे कल्पना

करता है कि मैं कई कोस की दूरी पार कर चुका हूं क्योंकि दिन उगते-उगते उसको घाणी मे जोता जाता है और दिन अस्त तक उसे चलाया जाता रहता है । आखो पर पट्टा बधा होने से वह देख तो पाता नही कि वह कहा चल रहा है और उसने कितनी दूरी पार की। उसके मन मे तो यही होता है कि वह काफी लम्बी दूरी पार कर चुका है और बहुत ज्यादा आगे निकल गया है । लेकिन शाम को जब उसकी आखो का पट्टा खोला जाता है तो उस वक्त उसकी हैरानी का पार नही रहता । वह देखता है कि सुबह जिस जगह से वह चला था, शाम को भी वह तो उसी जगह पर खडा है, फिर दिन भर वह तो यही चलता रहा । रोज उसके साथ यही गुजरती है ।

जैसी इस घाणी के बैल की हालत होती है, वैसी ही हालत इस आत्मा की बनी हुई है, जो अनन्तकाल से इस ससार रूपी घाणी के चक्कर लगा रही है । आत्मा की ज्ञान रूपी आखो पर भी अज्ञान की पट्टी लगी हुई है । उसके दिव्य नयन बन्द है और ज्ञान चक्षु देख नही पाते है । लेकिन क्या यह स्थिति आपको महसूस होती है ? क्या कभी आप अपने जीवन-क्रम को देखने की कोशिश करते है ? क्या आपका जीवन क्रम भी सुबह से रात तक घाणी के बैल की तरह ही बधा बधाया नही बन गया है ? प्रात:काल से लेकर संध्या तक का हिसाब और पुन. सुबह तक के प्रतिदिन के कार्यक्रम को देखें तो आपको पता लगेगा कि आप घाणी के बैल की तरह एक ही चक्कर में घूम रहे है अथवा अपने जीवन मे कुछ नवीन कार्य भी कर रहे है ? चौबीसों घंटे आप व्यस्त जैसे रहते है—विश्राम भी बहुत कम मिलता है । लेकिन क्या कभी आप लेखा जोखा लेने की चेष्टा भी करते है कि इस सारी व्यस्तता में नया कार्य कितना किया तथा नई गति कितनी बनाई ? कभी गहराई से चिन्तन करे तो यह लेखा जोखा भी निकले और अपनी वर्तमान गतिविधियों की उपयोगिता का ज्ञान हो सके। यदि ऐसा ज्ञान लेने का प्रयत्न करे तभी भान भी हो सके कि किस प्रकार घाणी के बैल की गति बदल कर [illegible] जैसी गति बनाई जा सकती है ।

घाणी के बैल जैसा चक्कर :

कदाचित् आपको अन्य समय मे फुरसत मिले या नही मिले तो इस वक्त मे आपको ऐसा हिसाब समझा दूं कि रोज सुबह से शाम तक आप घाणी के बैल जैसा चक्कर किस रूप में चलता रहता है ?

[illegible] का सूर्योदय होते ही आपकी नजर [illegible]

है, कभी सोचा है आपने ? सभी का यों दीखने में प्रोग्राम अलग अलग होता है लेकिन है एक ही प्रकार का । शारीरिक चिन्ता से निवृत्त होना, चाय-नाश्ता करना, स्नान आदि की क्रिया से निवटना, कुछ बच्चो से बाते कर लेना तथा भोजन कर लेना । भोजन करके सर्विस करने वाले अपनी सर्विस पर चले जाते हैं, दुकान वाले दुकान पर चले जाते है या अन्य काम धधे वाले अपने काम मे लग जाते है । दिन का समय काम के अलावा कुछ शयन करने मे, कुछ गपशप करने मे चला जाता है । सध्या पड़ते-पड़ते वही शारीरिक कार्यो से निवृत्ति, भोजन, भ्रमण और शयन । यही करीब-करीब सामान्य दिनचर्या सबकी होती है । कल जो कार्यक्रम किया, वही आज कर रहे है तथा वही कल भी करेंगे । यह चक्कर भी क्या है ? कही यह भी घाणी के बैल सरीखा ही तो चक्कर नही है ?

मन मे बहुत-बहुत बाते रहती है, इतनी व्यस्तता जताई जाती है जैसे पल की भी फुरसत नही है, लेकिन इतनी सारी व्यस्तता मे सारपूर्ण काम आपने क्या किया—इस पर भी क्या कभी विचार करते है ? चालू कार्यक्रम मे कब क्या नवीनता बरती—इस पर भी चिन्तन किया है कभी ? सामान्य प्रक्रियाए तो पशु भी करते हैं । वे भी सूर्योदय होते ही खुराक की तलाश मे इधर से उधर घूमते है । जो कुछ मिला खा लिया, इधर लेटे, उधर घूमे और दिन बिता दिया । रात्रि में वे भी सो जाते है और सुबह से फिर वही रोज वाला क्रम शुरु कर देते है । जो-जो सामान्य क्रियाएं मनुष्य करता है, प्राय करके वे ही क्रियाएं अन्य प्राणी भी करते है । यह अवश्य है कि मनुष्य के पास इन क्रियाओ के सुविधाजनक साधन उपलब्ध है । उसके पास बढिया मकान है, गद्दी तकिये है, इच्छित भोजन की सामग्री है तो अन्य प्रकार के विविध साधन है । पशु के पास ये सब नही हैं । पशु को जो कुछ मिल जाता है, उसी मे वह सन्तुष्ट रहता है और सारे सुख दु.ख सहन करता है ।

यह आत्मा इस मनुष्य-योनि के अलावा अन्य योनियो मे भी अपने कर्मानुसार जाती है, लेकिन मनुष्य योनि का जो विशेष कार्य है, वह है ज्ञान चक्षुओ को खोलना । इसलिये इस प्रार्थना की पक्तियो मे इसका सकेत दिया गया है कि—

चरमावर्त्त हो चरण करण तथा रे,
भव परिणति परिपाक ।

दीव टले वलो दृष्टि खुले भली रे,

प्राप्ति प्रवचन वाक् ॥

संभवदेव ते धुर सेवो सवे रे…………

रोज सुबह से शाम तक आपके घाणी के बैल जैसा चक्कर मिटे और उससे छुटकारा मिल सके—तभी इस आत्मा का उद्धार हो सकेगा। चक्कर से छुटकारा मिलकर चक्कर के किनारे तक पहुंचने की स्थिति बन जाये—इसे ही चरमावर्त कहते है।

चरमावर्त : संसार से छुटकारा :

जिस व्यक्ति का जीवन विकास की दिशा मे मुड जाता है और मानव जीवन को सार्थक बनाने का वह लक्ष्य निर्धारित कर लेता है, वह कम से कम यह भी चिन्तन करना आरंभ कर देता है कि जिस चोले मे मै हू—जिस शरीर को मेरी आत्मा ने धारण कर रखा है, वह मानव-शरीर है तथा इस मानव शरीर की महानता किस मे रही हुई है ? क्या उसको घाणी के बैल की तरह रोज की बनी बनाई दिनचर्या मे ही समाप्त कर देना है अथवा उसको घाणी के बैल की तरह के चक्कर को समाप्त करने मे लगा देना है ?

ध्यान रखिये, ससार के इन चक्करो मे अन्ततोगत्वा न किसी को कभी सुख मिला है और न वह मिलने वाला है। यदि सच्चे सुख की झलक दिखाई देती है तो वह चरमावर्त के आने पर ही दिखाई देती है। चरमावर्त का अर्थ होता है आखिरी चक्कर अथवा किनारे का चक्कर याने कि इस संसार से छुटकारा पाने का अवसर। यदि वह आवर्त से बाहर निकल जाता है तो ऐसा समझना चाहिये कि उसने मानवीय एवं आत्मिक शक्ति का [illegible] [illegible] लिया है। यदि इस चरमावर्त के समय पुनः चक्कर मे चला जाता है तो उस के लिये इस मानव-जीवन को प्राप्त करना या न करना बराबर हो जाता है।

यह चरमावर्त कैसे आता है ? इसका बारीक शास्त्रीय विवेचन किया गया है। यह एक प्रकार से आन्तरिक प्रक्रिया होती है। अनादिकाल की विविध परिस्थिति की समाप्ति का यह शुभ अवसर होता है।

इस आत्मस्वरूप के ऊपर मोह का बहुत बड़ा आवरण पड़ा है, [illegible] का विवेचन [illegible] के रूप मे भी किया गया है। मिथ्यात्व मोह का [illegible] आवरण आत्मस्वरूप के ऊपर इस तरह लिपटा जाता है कि आत्मा को [illegible] ही सम्पूर्ण दिखाई देने लगता है। इस आवरण [illegible] बिना [illegible]

की शुद्धता स्पष्ट नहीं बनती है। जब मिथ्यात्व का आवरण हटता है, मोह की चद्दर दूर होती है और जब इनकी गांठे खुलती है, तभी आत्मजागृति का अवसर आता है। यह, जो गाठ खुलने का अवसर है, वह बड़ी विरल स्थिति से आता है। कभी आपने पहाड की चोटिया देखी है? जब कुदरती तौर पर बरसात पडती है तो कई बार टूटकर चट्टानो के वडे-वड़े टुकडे नीचे गिरते है। ये टुकड़े जब चट्टानो से टूटते है वडे नुकीले और तीखे होते है, लेकिन वहते-वहते मिट्टी के सयोग से ये घुटते रहते है और घुट-घुट कर गोल वनते जाते हैं। नदी या नाले मे लुढकते लुढकते ये तीक्ष्ण न रहकर चिकने हो जाते हैं। आप वताइये कि उन पत्थरो को चिकना किसने वनाया? क्या किसी कारीगर ने? किसी कारीगर ने यह काम नही किया। पत्थर कुदरती तौर पर गोलमोल वन जाते हैं।

पत्थर की इस प्रकार की दिशा के अनुरूप ही आत्मा चौरासी लाख योनियो रूपी पहाडो की चोटियो पर पहुची है तो छोटी से छोटी योनियो मे भी इसने टक्करें खाई है। इधर से उधर इसका लुढकना जारी रहा है और इस तरह लुढकते २ इसका मिथ्यात्व मोह भी चिकना हो गया है। इस गाढ स्थिति को समाप्त करके चरमावर्त मे आत्मा आ जावे तभी चक्कर से छुटकारा हो।

मानव-जीवन को सार्थक बनाइये-

मिथ्यात्व मोह के आवरण मे वन्धकर इस आत्मा ने चौरासी लाख योनियो मे भवभ्रमण करते हुए वड़े-वडे कष्ट पाये है। कई योनियो मे जन्म से अन्धापन, वहरापन, गूंगापन भुगता तो मूक अवस्था मे अत्याचार भी सहन किये। मूक अवस्था मे भी वेदना का अनुभव तो होता ही है। यदि इस अवस्था मे भी सदाशयता आ जाती है तो आत्मा वेदना का अनुभव करते २ भी पुण्यवानी वाध लेती है। उसको भीतर ही भीतर पश्चात्ताप होता है और परिणामो की श्रेष्ठ धारा मे मनुष्य शरीर का आयुष्य-वन्ध कर लेती है। इस तरह मनुष्य जीवन की यह प्राप्ति वड़ी दुर्लभ होती है। जो प्राप्ति दुर्लभ होती है, उसका पूर्ण सदुपयोग होना चाहिये-यह सतर्कता आवश्यक है;

मनुष्य जीवन में यह सुअवसर मिलता है कि मिथ्यात्व मोह की ग्रन्थियो में ढीलापन लाया जाय तथा उसके आवरण को हटाने का प्रयत्न किया जाय। मनुष्य में जब विवेक और सदाशय जागृत होता है तो वह अपने कार्यों की समीक्षा करता है एवं आत्मालोचना द्वारा प्रायश्चित्त भी करता है। इस

प्रायश्चित्त से वह पाप एवं धर्म के स्वरूप को समझता है तथा पाप से [illegible] हटने का यत्न करता है । तब वह धर्म के शब्द सुनने लगता है और इस अभिरुचि के विकसित होते जाने के साथ-साथ मिथ्यात्व मोह-कर्म की [illegible] स्थिति समाप्त होने लगती है । जहां मनुष्य को धर्म के शब्द अच्छे नहीं लगते है, वहां समझना चाहिये कि मिथ्यात्व मोह का आवरण प्रगाढ बना हुआ है। जिसका आवरण हल्का होने लगता है, वही धर्मस्थान की शरण लेकर अपनी मानवता को सार्थक करने की अभिलाषा बनाता है । धार्मिकता का रस बढ़ने के साथ ही मिथ्यात्व मोह के आवरण को हटाने का सुअवसर सामने आ जाता है ।

मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन और चरमावर्त—

ज्ञानीजन कहते हैं कि जब धर्म-शरण की भावना प्रबल बनती है तो ऐसे भावनाशील व्यक्ति के यथाप्रवृत्तिकरण का अवसर आता है । इस अवसर पर भी वह मिथ्यात्व की ग्रंथि को खोलने के लिये उसके समीप पहुंचता है लेकिन गांठ को खोल या तोड़ नहीं पाता है । परिणामों में-भावों में उत्साह और प्रफुल्लता आती है तथा उसी उल्लास की उच्चता के प्रसंग में मिथ्यात्व की ग्रंथि खुलती है । मिथ्यात्व की ग्रंथि खुल जाती है और तब जो प्रसंग बनता है, वही चरमावर्त का प्रसंग कहलाता है ।

चरमावर्त के प्रसंग की अपेक्षा से अपूर्वकरण कहा जा सकता है । 'करण' का अर्थ होता है जिसके माध्यम से कुछ किया जाय । जैसे सरौते से सुपारी काटी जाती है, वैसे ही मन के अति उज्ज्वल अध्यवसायों से मिथ्यात्व की ग्रंथि तोड़ी जाती है । मिथ्यात्व की गांठ का टूट जाना अपूर्वकरण होता है । इसके बाद अनिवृत्तिकरण को करता हुआ अन्तःकरण करता है, [illegible] भाव शुद्धता प्रकट होती है एवं आत्मा अपनी पूर्ण आंतरिकता में [illegible] वृत्तियों को हटाकर दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेती है । तभी कहा जाता है कि ज्ञान चक्षु खुल गये हैं । यह आत्मस्वरूप की ज्ञान दृष्टि प्रशांत अवस्था [illegible] है । ऐसी आत्म-प्रशांति विरले व्यक्तियों को ही मिलती है । ऐसी प्रशांति [illegible] है, तभी परमात्मा की वाणी सुनने का प्रसंग आता है और जीवन के [illegible] रूप समझने का यत्न भी किया जाता है । यह अवस्था उपशम सम्यक्त्व की बन जाती है ।

[illegible] होता है और सम्यक्त्व, जो आत्मा अनादिकाल से [illegible] चौरासी लाख योनि के चक्कर में पड़ी हुई है, जिसने मिथ्यात्व [illegible]

है । उस आत्मा के संसार की सीमा का निर्धारण जिस करण से हो, वह चरम-करण चरमावर्त कहलाता है । इस चरमकरण की स्थिति आने के बाद मनुष्य क्या सोचता है ? वह तो सोचता है—मैं इस मनुष्य जीवन को पा चुका हूं, और आर्यकुल भी मुझे मिला है । अनार्य लोगो से मेरी पुण्यवानी वहुत अच्छी है । मैं सबकुछ समझने की कोशिश करता हूं । इस जीवन मे ज्ञान विज्ञान तथा क्रिया का समन्वय कर सकता हू और इस जीवन से लोकोपकार भी कर सकता हूं। इस मनुष्य जीवन को सार्थक वनाने के लिये जितना अधिक समय मैं स्वपर–कल्याण मे लगा सकू, उतना ही मेरे लिये हितावह है । मैं अपने जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाऊं तथा दूसरो को भी ऐसी ही प्रेरणा दूं । सभी के साथ मेरा मधुर व्यवहार रहे और कही भी कटुता नही आवे। कारण मैं जानता हूं कि संसार मे सबके साथ जो मेरा सम्बन्ध है, वह धर्मशाला जैसा सम्बन्ध ही है । जैसे धर्मशाला मे जगह–जगह के व्यक्ति अस्थायी निवास के लिये एकत्रित हो जाते है, वैसे ही ससार का जीवन भी एक दृष्टि से अस्थायी जीवन का ही निवास होता है । धर्मशाला मे भी यात्री परस्पर मिलते हैं–स्नेहपूर्ण व्यवहार करते है, लेकिन वे जानते है कि यह धर्मशाला छोडकर चला जाना है ।

इस रूप मे चरमकरण की अवस्था मे शुभ भावनाओ की धारा चलती रहती है और वह आत्मा अन्य सभी प्राणियो के साथ सेवा, मधुरता और प्रेम का व्यवहार करती है । धर्मशाला की भावना से मोह का गाढापन हल्का होता है और जीवन की क्षणभगुरता का ध्यान वना रहता है । क्या ऐसी भावना आपकी भी अपने भाइयो के साथ–अपने परिवार वालो के साथ बनती है ? जिसमे आप रहते है, वह आपकी हवेली है या धर्मशाला है ? मेरे सामने तो आप धर्मशाला वतला देगे, लेकिन अपने मकान मे रहते हुए उसे धर्मशाला नही समझेंगे । यह मकान मेरा है—इसमे इतना–इतना हक मेरा है, उसको मेरा भाई कैसे ले सकता है ? यह सब विचारणा चलती रहेगी। अधिक से अधिक हक मुझे मिले और भाई को कम से कम और घर की सम्पत्ति का वटवारा भी इसी रूप मे करना चाहेगे । क्या मैं गलत तो नही कह रहा हूं ? सभी ऐसा नही चाहते लेकिन अधिकाश लोग इस प्रकार की मूर्छावृत्ति मे डूबे हुए रहते है । इस मूर्छावृति से जागेंगे तभी मिथ्यात्व की ग्रन्थि खुलेगी और तभी चरमावर्त का प्रसग आ सकेगा ।

मानवता की आवश्यकता—

आत्मा की समत्व–शक्ति को आच्छादित करने वाला मिथ्यात्व–मोह

कर्म जब तक आत्मा के साथ रहता है, तब तक सम्यक् ज्ञान दृष्टि स्पष्ट एवं प्रकाशमान नहीं बन पाती है और इसी तरह भावनाओं के साथ जब तक मोह जुड़ा रहता है, व्यवहार में शुद्ध दृष्टि नहीं बन पाती है। इस प्रकार आत्मा की जब तक मिथ्यात्व एवं मोह की दृष्टि बनी रहती है, तब तक वह उसी तरह संसार में भ्रमण करती रहती है, जिस तरह घाणी का बैल घाणी के चारों तरफ चक्कर लगाता रहता है। वह तो ठीक, लेकिन इस मनुष्य–जन्म प्राप्त हो जाने के बाद भी इस जीवन में जब घाणी के बैल की तरह ही गृहस्थावस्था में चक्कर काटे जाते हैं तो अवस्था बड़ी दयनीय हो जाती है।

गृहस्थावस्था का मुझे भी थोड़ा ज्ञान है। मेरे गृहस्थावस्था के चाचा जी बूढे थे और भतीजा जवान था। दोनों के बीच बंटवारा हो गया था। भतीजा पक्का मकान बना रहा था सो वह अपनी सुविधा बढ़ाने की नीयत से एक बैंत (बालिश्त) काका जी की जमीन अपने मकान में मिलाना चाहता था। काकाजी ने देने से इन्कार किया। भतीजा लेने पर तुल गया। कीमत भी वह देना नहीं चाहता था। वह तो चाचा जी को मारने तक के लिये तैयार हो गया। ऐसा होता है, मोह, जो मनुष्य को अंधा कर देता है। ऐसे अंधे मनुष्य क्या मकान को धर्मशाला समझ सकते हैं? वे तो मोह की घाणी के ही चक्कर काटते रहेंगे।

ऐसा ही एक दृष्टान्त महाराष्ट्र की तरफ का है, जो स्व. आचार्य श्री फरमाया करते थे। दो भाइयों में सारी सम्पत्ति का बंटवारा हो गया, लेकिन बाड़े में एक सुपारी का पेड़ ऐसा आया हुआ था जिसका बंटवारा नहीं हो सका। उस पेड़ के लिये दोनों के बीच संघर्ष चलता रहा। वे आपस में नहीं निपट पाए। एक भाई ने मुकदमा दायर कर दिया। दोनों तरफ से वकीलों की फीस और पेशियों के खर्चों में हजारों रुपये फूंके जाने लगे और अन्त में जब न्यायाधीश को कोई समुचित निर्णय नहीं सूझा तो उसने आज्ञा दी कि पेड़ को कटवा दिया जाय और लकड़—बराबर बांटी जा... दी जाय। क्या मिला दोनों भाइयों को? ऐसी मानमानीन प्रवृत्तियों में और भी [illegible] ही दिखाई देती है। ऐसी दशा में व्यावहारिक जीवन की शुद्धि कैसे हो सकती है?

साथ चलेगा या दूसरी सम्पत्ति साथ चलेगी ? इनके साथ जुडे हुए मोह संबंध को हटाना ही घाणी के बैल के चक्कर को मिटाना है । ऐसे भी रूपक सुनने को मिलते है, जहां मोह को छोड देने वाले सज्जन अपने अधिकार की सम्पत्ति का भी त्याग कर देते है ।

मिथ्यात्व और ममता की दृष्टि जितने अंशो मे हटती है तो वहां सम्यक्त्व एव समता की दृष्टि बनती है । ऐसी दृष्टि ही ज्ञान चक्षुओ की दृष्टि होती है और इसी दृष्टि की सहायता से आत्म-विकास का सही मार्ग खोजा जा सकता है तथा घाणी के बैल जैसे चक्कर से भी छुटकारा लिया जा सकता है ।

सम्यक्त्व से भवभ्रमण का छुटकारा—

ससार के भ्रमण के चक्कर से यह आत्मा सदा सर्वदा के लिये छुटकारा पा ले-यही इस आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है । जब मिथ्यात्व मोह की गाठ खुल जाती है और चरमावर्त का प्रसग आ जाता है तो सम्यक् ज्ञान दृष्टि भी खुल जाती है एवं आचरण का चरण उठ जाता है । ज्ञान एव आचार की आराधना करते हुए सम्यक् ज्ञान-दृष्टि का विकास होने लगता है। यह विकास ही आत्मा को भवभ्रमण के चक्कर से शाश्वत मुक्ति दिलाता है ।

सम्यक् ज्ञान की दृष्टि का विकास सुसस्कारी वातावरण मे सहज बन जाता है । ऐसे सुसंस्कारी वातावरण को बनाने का पहला उत्तरदायित्व होता है माता-पिता का । माता-पिता प्रारभ से बालक मे अच्छे सस्कार डाल दें तो उनकी छाप भावी जीवन पर हमेशा बनी रहती है। दूसरा क्रम अध्यापको का आता है, जिनकी सुशिक्षा का काफी प्रभाव लौकिक जीवन पर पडता है। आत्मविकास पर प्रभाव डालने वाले और आध्यात्मिक शिक्षा दीक्षा देने वाले होते है धर्मगुरु एव धर्मगुरुओ का महत्त्व हमारी सस्कृति ने स्वय परमात्मा से भी अधिक माना है—

> गुरु गोविन्द दोनो खडे, कांके लागूं पाय ।
> बलिहारी गुरुदेव की, जो गोविन्द दियो बताय ॥

आगमवाणी ऐसी दिव्य है जो चक्कर से छुटकारे के अमोघ उपाय बताती है । साधक-जीवन का आचार आचारांग सूत्र मे बताया गया है, जो भगवान् की पहली वाणी है । इसमे अर्थ और सार की अगम्य गहनता है । ऐसी वाणी श्रवण करने का जो प्रसग आया है तो इसको हृदय मे उतार कर इस चक्कर से छुटकारे के उपाय साध लीजिये ।

विवेक से चिन्तन करें :

ज्ञान और विवेक की दृष्टि से सोच समझ कर निर्णय लेने का आप-का काम है कि अनादि काल से जो करते आये हो, वही आगे भी घाणी के बैल की तरह चक्कर ही काटते रहना है अथवा इस चक्कर से छुटकारा पाने के उपाय काम में लेने है ? सही तरीके से चिन्तन करेंगे और मिथ्यात्व मोह के आवरण को हल्का बनावेंगे तो आपको स्पष्ट समझ में आ जायगा कि सच्चे सुख-शान्ति इस कष्टकर चक्कर से छुटकारा पाने पर ही प्राप्त हो सकेंगे।

चक्कर से छुटकारा पाने के लिये मिथ्यात्व को, मोह की गांठ को खोलिये, अन्तःकरण को आध्यात्मिक उल्लास से परिपूर्ण बना दीजिये तथा आत्म-साधना में लगकर मुक्ति की दिशा में प्रयाण कर दीजिये।



कपड़ों की तरह अपने को धोइये !

संभव देव ते धुर सेवो सवेरे,

लही प्रभु सेवन भेद ।

सेवन कारण पहेली भूमिका रे,

अभय, अद्वेष, अखेद ।।सभव।।

जीवन की पवित्रता के लिये पवित्र साधना की अपेक्षा रहती है । शुद्ध उद्देश्य के सम्मुख रहने पर उसमे सिद्धि प्राप्त करने हेतु तदनुरूप ही साधना की, सहयोग की अपेक्षा है। यह जीवन उस लता की तरह है जो किसी का सहारा पाकर फैलती है, बढती है और ऊपर चढती है । यदि अनुकूल सहारा उस लता को नही मिलता है तो वह नीचे गिर जाती है या सूख जाती है ।

जीवन का सचालन मुख्य रूप से मन की वृत्तिया करती है क्योकि मन का विचार ही वचन और व्यवहार मे कार्यान्वित होता है । यह मनोवृत्ति लता के समान होती है, जिसको ऊपर चढने का आश्रय मिल जाय तो ऊपर चढ जाती है तथा आश्रय कमजोर हो जाय या गिर जाय तो वह भी नीचे गिर जाती है । सहायक अच्छा मिल जाता है तो मनोवृत्तिया समुन्नत होती है और सहायक अच्छा नही हो तो मनोवृत्तियो का अभिवाछित विकास कठिन हो जाता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य :

मन के अन्दर जितने अपवित्र विचारो का सचय है, जितने अशुद्ध सस्कार जमे हुए है, उतना ही इस आत्मस्वरूप पर अधिकाधिक भार बढता

रहता है । जितनी भी अशुभ कल्पनाएं मनुष्य करता है, जिससे बुरे वि-
पनपते हैं तथा जितनी बुरे कार्यो मे प्रवृत्ति होती है, उतना ही वह मनुष्य कर्मों
का संचय करता है और वे कर्म कभी कभी तो तत्क्षण फल देने को तत्पर हो
है और कभी कई जिन्दगियो के वाद फल देते है। परन्तु उनका भोग अवश्य
करना पड़ता है यथा.—अवश्यमेवभोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम् ।

जब पूर्व के अशुभ कर्म इस जीवन मे फल देने की तैयारी करते हैं
तो मानव सोच बैठता है कि मैने इस जीवन मे तो ऐसा कोई कार्य नहीं
किया जिससे मैं इतना कष्ट पाऊं, फिर यह अशुभ कर्मो का उदय कहां से
आया जो मेरे जीवन मे कष्ट ही कष्ट देखने को मिल रहे हैं ? ऐसे प्रश्न
की ऐसी कल्पनाएं करके वह दुःखी हो जाता है, लेकिन यह नहीं सोच पाता
कि ये जो दुःख और सकट आये है, ये मेरे स्वय के उपार्जित किये हुए
के ही फल रूप है । मै भूल गया हू कि मैंने किस जन्म मे इन कर्मो का
उपार्जन किया ? उस जन्म की कई बाते भी मैं याद नही कर पाता [illegible]
पहले की बाते सामान्य ज्ञान के जरिये मस्तिष्क मे कैसे आ सकती हैं ?

यह सत्य है कि आत्मा ही कर्म करती है तथा उसका फल भी कर्म
के उदय आने पर उसी आत्मा को भोगना पड़ता है । प्रभु महावीर ने कहा
है कि जो आत्मा कर्त्ता है, वही फल भोक्ता भी है तथा जैसा करते हैं, वैसा
ही भरते है । उन कर्मो का फल उसके कर्त्ता को ही मिलता है, किसी अन्य
को नही । पिता ने कर्म किये हैं तो उन कर्मो का फल पिता को ही मिलेगा
माता को नही । माता ने जो कर्म किये है, उनका फल माता को ही मिलेगा
पुत्र को नहीं। जिसने जैसे कर्म किये हैं, उनका वैसा ही फल उसी को मिलता है

चमक मन्द होती जाती है। ये कर्म एक प्रकार से मैल का ही रूप होते हैं और इस मैल से जब आत्मा का स्वरूप मलिन बनता जाता है तब उतना ही उस पर भार बढता जाता है जिसका अर्थ है कि उस आत्मा का ज्ञान एव विवेक उतने ही अंशो मे कुंठित बनता जाता है। कुंठाग्रस्त आत्मा मोह और मिथ्यात्व के दलदल मे आसानी से फंसती जाती है तथा अपनी उत्थान-प्रक्रिया को कठिन बना देती है।

पाप में कोई बंटवारा नहीं करता :

कभी-कभी भद्रिक लोग सोच लेते हैं कि हम कितना ही पाप करें लेकिन हमारे पाप का हिस्सा बटाने वाले बहुत मिल जायेंगे क्योंकि पाप करके हम जो कमाई करते है, वह कमाई सारे परिवार के लोग काम मे लेते हैं तो जैसे वे सम्मिलित रूप मे सम्पत्ति का उपभोग करते है, वैसे पापो का भी सम्मिलित रूप से बटवारा कर लेगे तथा अपने-अपने हिस्से का फल सभी अलग अलग भोगेगे, हमे अकेले ही नही भोगना पडेगा। लेकिन इस प्रकार का चिंतन सही चिन्तन नही है। इन्सान चाहे परिवार के लिये अथवा चाहे स्वयं के लिये या अन्य किसी के लिये जो कुछ भी बुरे कर्म करता है—पाप कर्मों का उपार्जन करता है, उसका बुरा फल उसी को भुगतना होगा। मैल का भार उसी आत्मा को ढोना पडता है जो उस मैल को अपने स्वरूप पर लगा कर उस स्वरूप की स्थिति को मलिन बनाती है।

आप जानते है कि सम्पत्ति का बटवारा करने वाले सब तरफ मिल जाएगे। परिवार के सभी सदस्य कहेगे कि इसमे मेरा हक है—चाहे वह सम्पत्ति अकेले पिता की ही कमाई क्यो न हो। उस सम्पत्ति का अर्जन करने मे भले ही उस परिवार के मुखिया ने अपनी सारी आत्मा को काली और मलिन बना ली हो—पापो से परिपूर्ण कर ली हो, सारा भार स्वय ने ओढा हो, फिर भी जहा सम्पत्ति के बटवारे का प्रश्न आएगा, वहां सभी अपना-अपना स्थान जमा कर बैठ जाएगे और अपने-अपने हिस्से का अपना-अपना हक जता कर उसकी मागनी करने लगेंगे लेकिन पापो के सम्बन्ध मे अपना हिस्सा लेने को कोई भी तैयार नही होगा। सच तो यह है कि पापो का हिस्सा कोई ले भी नही सकता है—पापो का कोई बटवारा कर भी नही सकता है। पापो का बुरा फल तो उसी को भोगना पडता है, जो स्वयं पाप कार्य करता है। जितना पाप जो करता है, उसका तो उसको परिपूर्ण फल मिलता ही है, लेकिन पाप कराने वालो को भी पाप का कुफल भोगना पडता है। वह स्वयं पाप नहीं

कर रहा है, लेकिन दूसरों से करवा रहा है और कराने वाले में यदि पाप की उतनी अधिक तीव्रता है जितनी स्वयं पाप करने वाले में [illegible] वह पाप कराने वाला अधिक पाप कर्म भी बांध सकता है।

उसके बाद तीसरा वह व्यक्ति है जो स्वयं पाप नहीं कर रहा है और दूसरों से पाप कार्य करवा भी नहीं रहा है, लेकिन जो पाप कर्म को [illegible] सुनता है और पाप कर्म का अनुमोदन करता है वह भी अपने लिये अशुभ कर्मों का संचय करता है। उसके अनुमोदन की भावना जितनी तीव्र होगी, उस तीव्रता के अनुसार वह पाप कर्मों का बंध करता है। यदि उसकी तीव्रता करने वाले और करवाने वाले से भी अधिक है तो केवल उस तीव्रतम अनुमोदन के कारण वह उन दोनों से भी बढ़कर पाप का भागी बन जाता है। पाप के प्रति रुचि और भावना में जितनी प्रबलता होगी, उसके अनुसार ही पाप कर्मों का संचय होगा। लेकिन ध्यान में रखने वाला तथ्य यह है कि इस संचय का बटवारा नहीं होता है। उस संचय का प्रतिफल तो संचय करने वाला ही भोगेगा।

दुस्साहस से अशुभ बंध :

आत्मा में साहस का होना अच्छी बात है और वह साहस सत्साहस का रूप ले ले तो आत्मा सत्पुरुषार्थ करके अपनी सम्पूर्ण मलिनता को [illegible] उपशम कर सकती है तथा अपने स्वरूप को समुज्ज्वल बना सकती है। इसके विपरीत यदि वह साहस दुस्साहस के रूप में बदल जाता है तो वैसी आत्मा निडर होकर पाप कार्यों में संलग्न बन जाती है और ऐसे-ऐसे पाप कार्य करने लग जाती है जिनका सम्बन्ध केवल उसके अपने ही स्वार्थों से नहीं [illegible] हर किसी के लिये, किसी भी उद्देश्य से। लेकिन वह [illegible] कर लेती है और उसमें अपनी [illegible] मानती है। यह उस आत्मा का [illegible] होता है और यह दुस्साहस जिस मात्रा में अधिक होता है [illegible] आत्मा उतनी ही अधिक मलिन बनती है। उस भारी मलिनता को [illegible] कभी स्वयं ही धोने का प्रयास करेगी तो वहां स्वच्छता का [illegible] के बदले [illegible] पर भावना के [illegible] बदल जाते हैं, भव-भ्रमण [illegible] है और [illegible] का मार्ग कठिन बनता जाता है। दुस्साहस [illegible] लेकिन उस [illegible] का आविष्कार कोई नहीं [illegible] से भी नहीं होते हैं, जिसके करने के लिये वह आत्मा नाना प्रकार [illegible] करती है। चाहे [illegible] किसी का किसी के लिये [illegible]

उन पाप कर्मों में कोई बंटवारा नही करता है ।

उदाहरण के तौर पर समझ लीजिये कि एक अपराधी न्यायाधीश के सामने पहुचा और उसने अपने अपराध से बचने की कोशिश की। वकील भी लगाया मगर बच नही पाया । न्यायाधीश ने प्रमाण खोज लिये और उसको दंड देने की दृष्टि से फांसी की सजा सुना दी । जल्लाद को आज्ञा दी कि इसको फांसी के तख्ते पर ले जाओ । जल्लाद अपराधी को फांसी के तख्ते पर ले जा रहे हैं और दर्शक उस अपराधी को फासी के तख्ते पर चढ़ता हुआ देख रहे हैं ।

यथा परिणाम तथा बंध :

अब तीनो की स्थितियो से भिन्न-भिन्न रूपो मे अनुभव करें कि पाप रूप मैल का संचय कैसे होता है अथवा नही होता है ? ये तीन कौन हैं ? एक तो न्यायाधीश, जिसने अपराधी को फांसी की सजा दी । दूसरे जल्लाद, जो अपराधी को न्यायाधीश की आज्ञा से फासी के तख्ते पर ले जा रहे हैं तथा तीसरे दर्शक, जो स्वयं की इच्छा से अपराधी को देख रहे हैं । इन तीनों को पाप का बंधन अथवा अशुभ कर्मों का संचय अलग-अलग तरीके से होगा ।

न्यायाधीश ने फांसी की सजा लिखते समय दिल मे पश्चाताप [illegible] हो और सोचा हो कि वह जिस पद पर कार्य कर रहा है उस पद के कर्तव्य की दृष्टि से उसने न्याय किया है और अपराधी को उसके अपराध का उचित दंड दिया है तो उसकी भावना शुद्ध कहलायगी । वह चिन्तन करता है कि राज्य के विधान के अनुसार यदि वह न्याय नहीं करता है तथा उचित दंड नही देता है तो वह अपने कर्त्तव्य से गिरता है तथा कर्त्तव्य से गिरने पर तो वह महान् पापी कहलाता है । इस रूप से उसकी अपराधी के प्रति तनिक भी दुर्भावना नही होती है तथा न्याय करने की ही भावना रहती है तो फांसी की सजा के हुक्म के बावजूद उस न्यायाधीश के अशुभ कर्मों [illegible] स्वल्प होगी, तीव्र नहीं क्योंकि उसका अध्यवसाय [illegible] ।

जिन जल्लादो को न्यायाधीश ने अपराधी को फांसी पर चढ़ाने की आज्ञा दी, वे भी यदि निरपेक्ष भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तो स्वल्प पाप के भागी बनेंगे, लेकिन अगर वे तीव्र भावो तथा [illegible] के साथ अपराधी को फांसी के तख्ते पर चढाते है तो वे [illegible] पापो का संचय कर लेते हैं ।

अब जो दर्शक हैं वे न तो आज्ञा देने अथवा आज्ञा पालन करने की स्थिति में है। फांसी पर किसी को कैसे चढ़ाया जाता है, कैसे उसके प्राण निकलते हैं - यही सब कुछ देखने के लिये वे उपस्थित हुए। उस भीड़ में से कोई कहता है—बहुत अच्छा हुआ—इसको जल्दी से फांसी पर लटकाओ। उस दर्शक के कहने से फांसी जल्दी नहीं होगी और नहीं कहने से देरी नहीं हो जायगी, लेकिन वह इस प्रकार तीव्र भावों के साथ हिंसा का जो अनुमोदन करता है तो वह न्यायाधीश और जल्लाद से भी अधिक पाप कर्मों का बंध कर लेता है। उन्हीं दर्शकों में से कुछ व्यक्ति उस फांसी को देखकर पश्चात्ताप करते हैं कि क्यों इस व्यक्ति ने अज्ञान के कारण इस तरह का अपराध किया जिसका उनको यह दुष्परिणाम भुगतना पड़ रहा है। वे कातर होकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हम कभी ऐसे पाप कार्य में न उलझें। ऐसी भावना रखने वाला दर्शक अशुभ कर्मों के संचय से हटता है तथा पुण्यवानी भी बांधता है।

यह भिन्नता भावना के आधार पर निर्मित होती है तथा इसी निर्णय के अनुसार पाप रूप मैल का संचय होता है। कार्य का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उस कार्य के पीछे रही हुई भावना का। निर्दोष भावना भीषण कार्य को भी हल्का बना देती है तो दोषयुक्त भावना सामान्य कार्य को भी भीषण बना देती है। आपकी लौकिक दंड संहिता में भी भावना को मान्यता दी गई है। अगर नीयत बुरी है तो काम बुरा कहलाता है और उसी रूप में सजा दी जाती है। लेकिन दूसरी ओर अपराध गंभीर होता है [illegible] का होता है, परन्तु उसमें अपराधी की बदनीयत साबित नहीं होती है तो उसे अपराधी करार नहीं देते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में तो भावना का सर्वाधिक मूल्यांकन किया जाता है तथा भावना को ही प्रधान रूप से शुभाशुभ कर्मों के संचय का कारण माना जाता है। शुभ भावना आत्मा का विकास करने वाली होती है और अशुभ भावना पतन की ओर ले जाने वाली होती है।

आत्मा को स्वच्छ बनाने का उपाय :

आत्मतत्त्व पर [illegible] का जो मैल चढ़ता है, उसकी [illegible] स्वयं [illegible] करनी ही होगी है। यह मैल दूसरा कोई नहीं [illegible]। [illegible] स्वयं ने चढ़ाया हुआ मैल की सफाई स्वयं को ही करनी [illegible] जिम्मेवारी है - दूसरा कोई उसे धो नहीं सकेगा। इसका तात्पर्य है कि आत्मा ही [illegible]

की निर्माता एवं अपनी अशुभता अथवा शुभता की कर्त्ता होती है और इसी रूप मे उसका सुख-दुःख उसका अपना ही बनाया हुआ होता है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट घोषणा की है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठियो ॥

अपने सुख और दुःख के लिये यह आत्मा ही जिम्मेवार है। जितनी मात्रा मे वह अशुभ कर्म का सचय करती है, वैसा ही उसको फल मिलता है और आत्मा उतने ही मैलेपन से मलिन बनती है। उस मैल मे वह हाय-हाय करके जिन्दगी खोती है और क्षण भर भी शाति नही पाती है। उसकी दशा ऐसी दयनीय हो जाती है कि वह आध्यात्मिकता की ओर रुख भी नही करती है।

ऐसी मलिन स्वरूपी आत्मा यदि पाप का सचय समाप्त करना चाहे, वे पाप पूर्वजन्म के हो या इस जन्म के—तो उसके लिये दोनो रास्ते हैं। जहा अपाय है, वहां उपाय भी है। मनुष्य के कपडे पर मैल लगता है तो उसे धोने का उपाय भी है, शर्त यह है कि उसे धोने वाला चाहिये। दिन भर मनुष्य तरह-तरह के पाप कार्य करता है, उसका भी प्रति दिन परिमार्जन धुलाई के रूप मे हो जाय तो उन पापो से पिंड छूट सकता है। जैसे एक व्यवसायी दिन भर कार्य करता है तो उसके कपडे अवश्य मैले होते हैं। उस मैल को वह धो सकता है या नही? चौवीस घण्टो मे कपडो पर लगे हुए मैल को कोई धोना चाहे तो कितने समय मे धो सकता है? और इन्ही कपडो को १०-१५ दिन या महीने दो महीने और इसी तरह ज्यादा समय तक काम मे लेते रहेगे और धोयेंगे नही तो उन पर मैल चढने की कैसी स्थिति होगी तथा उनको धोने मे भी कितना श्रम उठाना पडेगा?

जैसे कपड़ो को धोकर साफ करते है, वैसे ही अपनी आत्मा को धोने का प्रयास करे और यह प्रयास रोज का रोज किया जाय तो कम से कम समय मे आत्मस्वरूप का परिमार्जन किया जा सकता है तथा उसको सदा निर्मल बनाये रखा जा सकता है। इसके विपरीत आत्म स्वरूप पर रोज का रोज मैल चढता रहे और उसे दीर्घकाल तक भी स्वच्छ करने का प्रयास नही किया जावे तो निश्चय ही मैल की परत इतनी मोटी हो जायगी कि उससे स्वरूप-दर्शन तो छिपेगा ही, लेकिन वह मोटी परत भी अथक पुरुषार्थ के विना हटाई नही जा सकेगी।

आत्मा का प्रमाद आत्मा को गिराता है क्योंकि प्रमाद [illegible] आत्मा अनवधान बनकर प्रतिदिन प्रतिक्रमण या सत्य साधना से [illegible] को साफ नहीं करती है। मैल चढ़ता जाता है और स्वरूप [illegible] सामान्य बनता जाता है। ऐसे प्रमाद में पड़े रहना आत्मा [illegible] लिए यह आत्मा की ही जिम्मेवारी है कि वह प्रमाद को छोड़े और पुरुषार्थ को अपनावे, ताकि रोज का मैल रोज ही साफ कर लिया जाय, [illegible] पुरुषार्थ अधिक सजग और कर्मठ बने तो पहले से जमे हुए मैल [illegible] साथ ही साथ होती रहे और आत्मस्वरूप में [illegible]। [illegible] के लिये आत्मा जिम्मेवार है तो पुरुषार्थ के लिये भी आत्मा ही [illegible] होती है कि वह अपने स्वरूप के मैलेपन को दूर करके उसकी [illegible] करले और उसको विशुद्ध बना दे।

घाट कहां पर है?

हर आत्मोन्मुखी व्यक्ति को यह सोचना चाहिये कि मेरा [illegible] क्यों इतना मैला हो रहा है। इस आत्मा के स्वरूप की उज्ज्वलता [illegible] साफ कपड़े से कई गुना अधिक होती है। उस पर लगे हुए मैल [illegible] लिये मैं चौबीस घण्टों में से कुछ समय तो अवश्य निकालूं और [illegible] दिन-रात में लगे हुए मैल को धो डालूं।

जैसे किसी का अपने मैले कपड़े धोने का [illegible] है तो वह कपड़ों को धोने के लिये घाट पर जाता है। जिस [illegible] जाता है वहां अनेक व्यक्तियों द्वारा कपड़े धोते रहने के कारण [illegible] द्वारा कपड़े धोने की सुविधा नहीं दिखाई देती है तो वह [illegible] है कि घाट कब खाली हो अथवा कौनसा घाट खाली है? [illegible] पर वह जाता है। वहां पर भी कुछ लोग कपड़े धोते [illegible] [illegible]

[illegible]

पर धोवे ? आत्मा को धोने का घाट कहा पर है ? ध्यान रखिये, वैसा घाट सन्तो के समीप मे होता है । आप दिन-रात पाप करते होंगे, मगर पाप करते समय भी उदासीन बने रहे और सोचे कि विवशतावश मुझे पाप करना पड़ रहा है, लेकिन मेरा अन्त करण उसके साथ नही है तो वैसी मनोवृत्ति भी आत्मा को धोने की पृष्ठभूमि वाली ही होगी । चौबीस घण्टो मे एक घण्टे भर पवित्र सन्तो के समागम मे व्यक्ति चला जावे तो दिन भर के पापों को धोने का अवसर मिल जाता है । पूर्व के पाप यदि ऐसी मनोवृत्ति के कारण कच्चे बन्धन वाले है और वैसा ही यदि अन्य जन्मो के पापो का भी संचय है तो वह सन्तसमागम के माध्यम से उनको भी धो डालता है। प्राय साधारण साधको के लिए उत्तम पुरुषो का सयोग एव समीपता आवश्यक है क्योकि वे समय-समय पर उस साधक को सावधानी दिलाते है, आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं । "सहायमिच्छे निउणत्थ बुद्धि ।" अर्थात् निपुण बुद्धि रखने वाले व्यक्ति की सहायता से साधना करके पापो को हल्का करते हुए जीवन को उज्ज्वल बनाया जा सकता है (उत्तराध्ययन सूत्र) ।

शास्त्रीय विषय प्राय करके आत्मा से सम्बन्धित है और उसका अर्थ भी गम्भीर और महान् है । उसी महान् अर्थ का कवि ने इस प्रार्थना मे कुछ सकेत दिया है कि परिचय साधु से करो । यदि साधु से परिचय करते हैं तो उनकी सासारिक अवस्था का नही, वैराग्य की अवस्था का परिचय किया जाना चाहिये । उनके वैरागी जीवन की परीक्षा-बुद्धि से सराहना करनी चाहिये तथा उनके माध्यम से अपनी आत्मा को धोने का उपक्रम करना चाहिये ।

साधु से सही विधि से परिचय करने से अपनी भावनाओ मे उच्चता आती है और प्रेरणा मिलती है कि जिस प्रकार उन्होने अपनी आत्मा का परिमार्जन किया तथा जिस प्रकार प्रतिदिन परिमार्जन करते रहते है, उसी प्रकार वह भी अपनी आत्मा का परिमार्जन करे । उस घाट पर बैठकर कपडो की तरह अपनी सफाई करने का यत्न करे । ऐसी वृत्ति के साथ जब साधु से परिचय किया जाता है तो पूर्व मे सचित अशुभ कर्मों का क्षयोपशम होता है । उसे तत्क्षण मालूम पडे या नही पड़े लेकिन सन्तो के समीप पहुचते ही उसे अनिर्वचनीय शाति का अनुभव होगा । यह अनुभव स्वय अशुभ कर्मों के क्षयोपशम होने का प्रमाण रूप होता है ।

सन्तसमागम से आत्मशुद्धि :

गौतम स्वामी भगवान् महावीर के प्रथम गणधर थे । एक बार वे

अनेग ? विचरण करते हुए आ रहे थे और भगवान् के दर्शन [illegible]
रास्ते में एक किसान ने गौतम स्वामी के दर्शन किये तो [illegible]
उठा, उसे अपूर्व शांति मिली। इतनी शांति मिली कि उसने [illegible]
रहने के निश्चय से दीक्षा अंगीकार करली, क्योंकि [illegible]
पूर्वकर्म टूट गये। फिर गौतम स्वामी चलने लगे तो महावीर [illegible]
सुनकर वह भी भगवान् के दर्शन करने के लिये गौतम स्वामी [illegible]
दिया। उसके मन में बड़ी उमंग थी कि भगवान् महावीर [illegible]
अधिक दिव्य पुरुष कैसे है ! लेकिन जब वह समवसरण में पहुँचा [illegible]
के सम्मुख जाते ही विद्रोही हो गया और साधु सामग्री [illegible]
भगवान् ने बताया कि निकाचित कर्मबंध के कारण उसमें [illegible]
उभर आया। वह घटना पूर्वभव की थी। कहने का अभिप्राय [illegible]
विशिष्ट कर्मों के उदय में आने की बात दूसरी है लेकिन सामान्य [illegible]
के समागम में जाने के बाद शांति का अनुभव होता है, [illegible]
होता है तथा आत्मा की शुद्धि होती है। आत्मशुद्धि और [illegible]
अनुभव ये दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं।

सन्तों के सत्संग में आत्मस्वरूप की सफाई होती है। [illegible]
एक घण्टे का समय भी यदि इनके समीप में बिताया जाता है [illegible]
वाणी सुनकर उनके अनुरूप व्यवहार किया जाता है तो [illegible]
पापों का संचय नष्ट होता है। सन्तसेवा से उत्तम श्रेणी [illegible]
बंध होता है और वह अपने वर्तमान जीवन को भी [illegible]
की ओर ले जाता है।

यदि सन्तों के समागम का प्रसंग नहीं हो तो [illegible]
है कि वह आध्यात्मिक ग्रन्थों का श्रवण-मनन करे। उन ग्रन्थों [illegible]
[illegible] दूसरों से ? [illegible] श्रवण करे। इससे [illegible]
[illegible] दोनों के अशुभ कर्मों का क्षय होता है। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इस तथ्य को समझकर नियमित रूप से प्रतिदिन कुछ समय ऐसा निकालें जिसमे सन्तो का सत्सग करे, स्वाध्याय करें एव प्रतिक्रमण करे, किन्तु ज्ञान एव विवेकपूर्वक रोज अपनी आत्मा को धोने का नियम बनाइये ताकि उसका स्वरूप उजला बनता जाय, उजला रहता रहे।

स्वाध्याय व प्रतिक्रमण का कार्यक्रम अपनी स्वेच्छा से नियमित चलावे, किसी के सम्मानपूर्ण आग्रह की अपेक्षा न रखे। जैसे घाट पर पहुच कर लडना-भिडना हो जाय, फिर भी कपडो की धुलाई करके ही आते है, वैसे ही कदाचित् कल्पना करिये कि कोई स्वाध्याय मे सहयोग नही करे अथवा बाधा ही डाले, तब भी आग्रहपूर्वक स्वाध्याय आदि का कार्यक्रम पूरा ही किया जाय, क्योकि ऐसे ही कार्यक्रम द्वारा रोज अपने आत्मस्वरूप का परिमार्जन करने का प्रसंग आता रहता है। सन्त-समागम, स्वाध्याय आदि नियमित बन जावें तो जीवन में कई आत्मिक गुणों का विकास हो सकता है तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य सुघड़ और सुन्दर बन सकता है।

मैं पूछूं कि आप कपडे क्यों धोते है? उनका मैल साफ करने के लिये ही तो धोते है? और मैल क्यों साफ करते है? क्योंकि मैल का शरीर के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। अत. आप शरीर की रक्षा के लिये उस मैल को साफ करना चाहते है, जो एक गौण बात है। गौण इसलिये कि प्रधान बात होती है आत्मा की सुरक्षा की। इसलिये आत्मा की मलिनता स्वच्छ हो, यह पहले जरूरी है। आत्मा का मैल धोया जायगा तभी आध्यात्मिक स्वास्थ्य सुन्दर बन सकेगा। आध्यात्मिक जीवन के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये आत्मशुद्धि परमावश्यक मानी गई है और यह आपके सामने जो अवसर है, वह अवसर पूर्णरूप से आत्मशुद्धि का ही अवसर है, जिसको आप हाथ से न जाने दें। प्रतिदिन समय बचाकर जितना प्रसग बने, उतने समय तक साधना करें तो आपकी आत्मा निर्मल बनेगी। निर्मलता का अर्थ ही यह है कि अशुभ पाप कर्मो का सचय धीरे-धीरे नष्ट होता हुआ चला जायगा तथा आत्मस्वरूप की उजली एवं दिव्य कांति प्रकाशमान हो उठेगी।

आत्मा का चरम लक्ष्य :

प्रत्येक भव्य आत्मा का चरम लक्ष्य ही यह है कि वह अपने स्वरूप का पूर्ण परिमार्जन करके अनन्त निर्मलता के साथ अनन्त सुख-शाति मे सदा के लिये ज्योति मे ज्योति रूप विराजमान हो जावे।

जिनको इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने आत्मस्वरूप को [illegible] बनाना है और अपने आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुगठित करना है, [illegible] आमन्त्रण की भावना नही रखें तथा सन्तो के सान्निध्य में निःसंकोच [illegible] आत्मशुद्धि की साधना करें। जैसे लोकसभा या विधान सभा के [illegible] के लिये लोग उमड़ पड़ते है, उससे कई गुना उत्साह के साथ [illegible] की तरह अपनी आत्मा की—निजस्वरूप की स्वच्छता की [illegible] कपड़ों की तरह रोज अपने को धोते रहेंगे तो आत्मस्वरूप भी [illegible] के शिखर उठने में अधिक विलम्ब नही लगेगा।



पुण्य: एक विवेचन

संभव देव ते धुर सेवो सवे रे,

लही प्रभु सेवन भेद ।

सेवन कारण पहेली भूमिका रे,

अभय, अद्वेष, अखेद ।।संभव।।

इस विशाल विश्व के भीतर अनेक प्रकार की कार्य–पद्धतिया देखी जा रही हैं । नई–नई वस्तुओं का निर्माण हो रहा है और पुरानी वस्तुएं जीर्ण-शीर्ण होती हुई चली जा रही हैं । सभी कार्य पद्धतियो मे कारण–कार्य भाव का सिद्धात उपस्थित होता है । कारण होता है तो कार्य बनता है तथा कारण की अनुपस्थिति मे कार्य का सद्भाव नही दिखाई देता है । इस विषय पर ज्ञानी पुरुषो मे कोई विवाद नही है कि कारण का तात्पर्य कार्य की साधन सामग्री से है ।

स्थूल रूप से विचार करें तो रसोई एक कार्य है तो उसका कारण है आटा, पानी, अन्य खाद्य सामग्री तथा रसोई तैयार करने के बर्तन आदि साधन । कारण मे भी उपादान कारण और निमित्त कारण के नाम से दो भेद होते है । इस प्रकार प्रत्येक कार्य की तरह आत्मिक शक्तियो की साधना के कार्य मे भी कारणो का अस्तित्व होता है । इन्ही सही कारणो को समझना, उनका सही उपयोग करना तथा कार्य को साध लेना यह मानव–जीवन के लिये अभीष्ट होता है ।

शरीर साधन : साध्य मुक्ति—

शरीर तो पशु–पक्षियो तथा छोटे कीड़ों–मकोड़ो के भी होता है

लेकिन आत्मा की परिपूर्ण साधना उस प्रकार के शरीर से संभव नहीं होती है। [illegible] उन शरीरों के पास मोक्ष साधना का सहयोग पूर्ण नहीं होता है [illegible] मोक्ष-प्राप्त करने के लिये उपादान कारण रूप ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की जो उपासना है तदनुरूप आत्मा की परिपूर्ण सिद्धि की सक्षमता उन शरीरों में नहीं होती है। जब कारण की सक्षमता नहीं तो कार्य की सिद्धि कैसे सम्भव हो सकती है ?

सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की सम्पूर्ण आराधना मनुष्य-शरीर से ही सम्भव होती है। यह मनुष्य का शरीर ही एक ऐसा शरीर है, जिसमें रहते हुए आत्मा अपनी समग्र शक्तियों का विकास कर सकती है। [illegible] यह होगा कि वर्तमान में दीखने वाला मनुष्य का शरीर यह भी [illegible] है और सच कहें तो सशक्त कारण है, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय करके [illegible] मोक्ष प्राप्त करने का। इसी दृष्टि से कहा गया है कि—"शरीर [illegible] साधनम्।" शरीर निश्चय रूप से धर्म साधना का कारण है।

यह तो मानव-शरीर के सदुपयोग की बात है, लेकिन [illegible] पर इस कारण को काम में लें तो यह कर्म बंधन करने, सांसारिकता को बढ़ाने तथा मोक्ष से दूर हटते जाने का भी कारण हो सकता है। [illegible] मनुष्य के पास तलवार है। उसका प्रयोग वह कैसे करे, यह उसके हाथ की बात है। उस तलवार से वह असहाय और दुर्बल प्राणियों की रक्षा [illegible] है तो उसी तलवार से वह प्राणियों का नाश करते हुए पाप कर्मों का बंध भी कर सकता है। इसी रूप में शरीर का भी साधन है। [illegible] दृष्टि से आप तलवार की उपमा दे सकते हैं, [illegible] संसार में [illegible] शरीर के भी सदुपयोग तथा दुरुपयोग के दोनों प्रकार से [illegible] है। मानव शरीर का दुरुपयोग करके उसके माध्यम से प्राणियों [illegible] के लिये भी मनुष्य [illegible] होता है तो अन्य कई प्रकार के [illegible] प्रवृत्त रहता है। [illegible] पाप कर्मों का बंध [illegible] शरीर का आयुष्य भी बांध लेता है।

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

है तो उस उपयोग का कर्त्ता स्वय शरीर नही होता है । वह कर्त्ता होती है इस शरीर के अन्दर रहने वाली, इस शरीर की अधिष्ठात्री और दूसरे शब्दो मे कहे तो इस शरीर की स्वामिनी आत्मा । वह आत्मा ही इस शरीर को साधन वनाकर चलती है । वही आत्मा इस शरीर के सभी अवयवो का— मन, वचन एव काया का प्रयोग करती है । इसलिये इस मानव-शरीर का कैसा उपयोग होता है–इसका पूरा-पूरा दायित्व आत्मा का होता है ।

आत्मा का ज्ञान-जागरण विकसित हो तो वह इस शरीर का सम्पूर्ण सदुपयोग करती हुई अपने स्वरूप को समुज्ज्वल वना लेती है, वरना अज्ञान दशा मे यही आत्मा इसी शरीर की प्रवृत्तियों का ऐसे विकृत रूप मे सञ्चालन करती है कि उनके द्वारा अपने ही पतन का मार्ग खोल देती है । आत्मा की चेष्टा से मुख्य तौर पर मन, वचन एवं काया के व्यापार को सन्मार्ग की ओर ले जाया जावे और प्राप्त धन, सम्पत्ति एव शक्ति का लोकोपकार, जन–कल्याण के लिये प्रयोग किया जावे तो वह आत्मा अतिशय पुण्य कर्मों का वध कर सकती है—इतनी ऊंची पुण्यवानी वांध सकती है कि जिसके द्वारा मोक्ष की साधना सहज रूप मे कर सके ।

पुण्यवानी भी दो तरह की होती है । एक पुण्यवानी के परिणाम–स्वरूप यह मानव शरीर मिला लेकिन यह शरीर पाप ही पाप मे डालने वाला वनता है और दूसरी तरह की पुण्यवानी ऐसी होती हैं कि यह मानव शरीर भी मिला तथा इस शरीर के माध्यम से भी धर्म की साधना होती हैं । किन्तु इस पुण्यवानी को वाधने वाली भी आत्मा ही होती है । यह आत्मा ही शरीर को पाप मे धकेलती है तो यही शरीर को धर्म के मार्ग पर गतिशील भी वनाती है ।

इस रूप मे सम्पूर्ण दायित्व आत्मा पर जाता है कि वह इस मानव शरीर को प्राप्त कर लेने के वाद किस प्रकार अपनी सचालन शक्ति को जागृत एव सही दिशा मे कार्यरत वनाये रख सकती है । यह उसकी ज्ञानदशा पर आधारित रहता है । आत्मा ही अपनी सज्ञा को शिथिल वना दे और शरीर के चलाये चलने लग जाय तो उस आत्मा की तो सज्ञाहीन सी अवस्था हो जाती है । इसी कारण भगवान् महावीर का जो प्रत्येक उपदेश है—[illegible] का जो प्रत्येक निर्देश है, वह इसी आत्मा के जागरण से सम्बन्धित है । [illegible] आत्मा को जगाना है और वास्तविकता तो यह है कि आत्मा [illegible] भी यह आत्मा ही है । आत्मा ही समुचित सहायक [illegible]

अपना अवलोकन करती है, अपने पर चिन्तन करती है और अन्त में इसकी प्रगति का मार्ग खोजती है। जब आत्मा जागृति के पथ पर अग्रसर होती है तो इस शरीर का भी वह सदुपयोग करती है और आत्मशुद्धि के [illegible] अतिशय पुण्य का भी उपार्जन कर सकती है।

पुण्यार्जन कैसे करें ?

पुण्य का उपार्जन भी वही आत्मा करती है जो सही [illegible] साधना अथवा धर्म की साधना भी करती है। किन्तु अर्जित पुण्य [illegible] में सहायक बनता है तथा यह शरीर भी तदनुसार धर्मसाधना का [illegible] बनता है। सम्यक् दृष्टि सहायक के रूप में इस पुण्य और पुण्य के [illegible] का भी ख्याल रखते हैं।

पुण्य[1] नौ प्रकार के बताये गये हैं - १. अन्न पुण्य, २. पान पुण्य, ३. लयन (स्थान) पुण्य, ४. शयन पुण्य, ५. वस्त्र पुण्य, ६. मन पुण्य, ७. वचन पुण्य, ८ काया पुण्य तथा ९ नमस्कार पुण्य। इनमें से पहला पुण्य [illegible] है अन्न पुण्य। इसका क्या अर्थ है? एक गृहस्थ के घर में अन्न का [illegible] भरा हुआ है तो क्या उसे पुण्य हो रहा है? ऐसा नहीं है। [illegible] ऐसा अन्न पुण्य नहीं है। हाँ, उस अन्न में पुण्य की साधना [illegible] सके पास में है जो किसी को भी निःस्वार्थ भाव से दिया जा सकता है [illegible] पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है। ऐसे अन्नदान में स्वार्थ की [illegible] दान की भावना नहीं होनी चाहिये! मैं अन्नदान दूं [illegible] बदले में कुछ मिले - इसे प्रतिदान की भावना कहते हैं। इसलिये पुण्य के उपार्जन में स्वार्थ की भावना नहीं आनी चाहिये।

है ? तो उसने जवाब दिया—आपको लूखा फुलका दूंगी तो मुझे भी लूखा फुलका ही मिलेगा और घी बहराऊंगी तो मुझे भी घी मिलेगा । महात्मा ने तब समझाया—ऐसी बात नही है । फुलका और अन्न तो निमित्त मात्र है । दान के जरिये जैसी भावना बनती है उस भावना के अनुसार ही आत्मशुद्धि और पुण्य का वध होता है । किसी व्यक्ति, सन्त या सुयोग्य पात्र को दे देने मात्र से ही पुण्य नही हो जाता है । देते समय यदि यह भावना रखते है कि दू जैसा ही मिले तो ऐसा देना एक तरह से उधार देना हो जायगा—व्यापार हो जायगा । दान कभी व्यापार नही होता है । देने के पीछे भावना यह रहनी चाहिये कि यह मै अपनी आत्मशुद्धि के लिये दे रहा हू । मेरा इन पदार्थों के ऊपर ममत्व है मूर्छा है, उसका इस दान के निमित्त से त्याग हो रहा है,अत यह दान मेरी अपनी आत्म-साधना का कारण बन रहा है । दान देते समय स्वार्थ या प्रतिदान का विचार नही होना चाहिये, बल्कि इस प्रकार का चिंतन चलना चाहिये ।

अन्न दान सदाशय से दिया जाय और उस सदाशयता से जिस रूप मे पुण्य का उपार्जन होगा, वह पुण्य आत्मा की साधना मे अवश्य ही सहायक बनेगा ।

पुण्यपाप का बंध भावना से—

कभी यह सोचा जाता है कि पचमहाव्रतधारी साधु को देने मे पुण्य होता है—धर्म होता है । इसमे तो धर्म ही धर्म है तथा एकात धर्म है और पचमहाव्रतधारी साधु के अलावा किसी भी अन्य को या किसी सद्गृहस्थ को भी शुभ भावना के साथ कुछ दिया जाता है तो उसमे भी धर्म या पुण्य नही है-ऐसी कल्पना भी किन्ही के मस्तिष्क मे आ जाती है । लेकिन सोचना यह है कि देने की भावना से पुण्य होता है अथवा पात्र की दृष्टि से पुण्य होता है अथवा किसी के साथ सयोग जुटा देने से पुण्य होता है तो घर के सदस्यो को अन्न दिया ही जाता है—उससे भी पुण्य होना चाहिये । जहा जवाई जी को जिमाया जाता हे, वहा भी पुण्य होना चाहिये । लेकिन इन सबको जो अन्न-दान किया जाता है, क्या उसके पीछे स्वार्थ की भावना नही होती हे ? वहा स्वार्थ की भावना होती है, किन्तु किसी अचानक आये हुए स्वधर्मी भाई को बिना किसी स्वार्थ के भोजन करा दिया तो उस अन्न-दान मे कितना अन्तर आ जाता है क्योकि एक व्यक्ति को तो स्वार्थपूर्ति के लिये भोजन करवाया जा रहा है और एक को नि.स्वार्थ भावना और स्वधर्मी भाई के कारण धर्म-बुद्धि से ।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि भावना के साथ ही दान [illegible]
होता है तो भावना के साथ ही पाप होता है । जैसी भावना [illegible]
ही फल मिलता है । नीतिकारों का कथन है—"यादृशी भावना [illegible]
भवति तादृशी" । सामने वाला पात्र, जिसको दिया जाता है, [illegible]
विषय का विवेक अवश्य होना चाहिये, किन्तु फलाफल का मूल [illegible]
होती है । यदि पात्र उच्च होता है तो भावना उच्च बनती है, [illegible]
तो भावना मध्यम एवं पात्र जघन्य है तो भावना भी जघन्य बनती है । [illegible]
कितनी तीव्र बनती है—यह दूसरी बात है, लेकिन शुभ भावना [illegible]
तो उसके साथ देने में त्याग अवश्य होता है ।

जहां अन्न का दान देते हैं, वहां उस में हम उन पर [illegible]
छूटता है । ममत्व छोड़ना बड़ा त्याग होता है । इस त्याग में [illegible]
धर्म होता ही है—यह दूसरी बात है कि अगला व्यक्ति [illegible]
कौन है ? साधु है, सदाचारी श्रावक है या अन्य कोई है—पात्र [illegible]
की अनुभूति दानदाता को होनी चाहिये । इन पात्रों में से किसी [illegible]
भावना से दिया गया तो यथोचित फल होता है क्योंकि [illegible]
है और भावना है तो धर्म अवश्य बनता है ।

अणगार को आया हुआ देखकर वह बडी प्रसन्न हुई कि उसका काम बन गया। वडे सम्मानपूर्वक उसने महाराज को वह कडुवे तुम्बे का पाक बहरा दिया। महाराज बस बस करते रहे, लेकिन पूरा पात्र खाली हुए बिना वह सरकी ही नही। वह तो खुश हो रही थी कि सारा झंझट मिट गया।

अब पहले पात्रता के हिसाब से देखिये तो धर्मरुचि अणगार से बढ़-कर वडा सुपात्र और कौन हो सकता था ? वे महान् सुपात्र थे। अब कोई कहे कि सुपात्र को दान देने से ही एकान्त पुण्य होता है तो क्या नागश्री अपनी उस भावना के साथ पुण्य की अधिकारिणी थी ? वहां तो सुपात्र को दान देकर भी नागश्री पाप की भागी ही वनी। मूल वात होती है भावना। नागश्री की भावना क्या थी ? सुपात्रता के वावजूद भी भावना मे इतनी नीचता के साथ वह पाप कर्म के सिवाय और क्या बाधती ?

दान की कसौटी : भावना—

कदाचित् कोई भाई सोचे कि नागश्री ने धर्मरुचि अणगार को दान दिया तो सही, लेकिन दान मे दिया गया पदार्थ अच्छा नही था, कडुआ और अखाद्य था इसलिये उसको पाप हुआ। यदि पदार्थ अच्छा होता तो धर्म अथवा पुण्य होता। इस तर्क पर भी विचार कर लें और एक कथा के प्रसंग से दान के सम्वन्ध मे धर्म और पुण्य का विश्लेषण जान ले।

एक पूरे परिवार ने दीक्षा ग्रहण की-पिता, पुत्र, माता। पिता और पुत्र साथ-साथ विचरते थे। पिता ने सोचा, पुत्र अभी छोटा है और अध्ययन कर रहा है, इसलिये उसका सारा काम वे करने लगे। जव तक वे जीवित रहे, उन्होने अपने पुत्र साधु को अन्य साधुओ की तरह काम नही करने दिया। यह योग्य वात नही थी क्योकि साधु को अपना सारा निर्वाह कार्य स्वयं करना चाहिये। अपना कार्य हाथ से करे और दूसरे वयोवृद्ध, गुरु या रुग्ण की सेवा करे तो उससे कर्मो की निर्जरा होती है। पिता जीवित रहे, तब तक उसको भिक्षा लाने का प्रसंग नही आया था, किन्तु वाद मे सन्तो ने कहा कि साधु का जीवन परतत्र ठीक नही होता सो अव तुम आहार पानी लेने जाया करो।

तव वह पात्र लेकर भिक्षा के लिये निकला। ऊपर सूर्य की तेज गर्मी और नीचे तपती हुई रेत पर चलते हुए उसके नगे पैर बुरी तरह जलने लगे। वह गर्मी मे पहले कभी गया नही था—पहली ही वार निकला था। पैरो मे छाले पड गये और वह एक वडी हवेली की छाया मे खड़ा हो गया।

ऊपर झरोखे से एक महिला ने नीचे झांका तो देखा कि एक तरुण [illegible]
हुआ है। उसकी भावना और की और बनी तथा वह नीचे [illegible]
भिक्षा हेतु कहकर ऊपर अपने कक्ष में ले गई। मुनि पहली बार भिक्षार्थ [illegible]
पूछा भी नहीं कि घर में कौन-कौन है? वैसे भिक्षा के नियमों का [illegible]
कोई अनुभव नहीं था। उसने मुनि को मधुर मोदक (लड्डू) [illegible]
निवेदन किया कि वे यहीं एक तरफ आहार करलें तथा गर्मी [illegible]
पर पधारें। तरुण मुनि ने उसकी बात मान ली, क्योंकि वे गर्मी से [illegible]
घबरा गये थे। पिता जी की छत्रछाया में रहते हुए उनको मुनि [illegible]
का समुचित अनुभव नहीं हो पाया था। इसलिये उन्हें यह ध्यान [illegible]
कि गृहस्थ के घर में बैठकर एक मुनि को आहार नहीं करना चाहिए।

मुनि वहीं पर आहार करने बैठ गये। वह महिला भी पास में बैठ
गई। उसकी नीयत में खराबी तो आई हुई थी, ही वह बातों बातों में [illegible]
इंगित करने लगी—ऐसे इंगित कि बड़े-बड़े योगियों का योग भी भंग हो [illegible]
आग के पास कितना ही ठंडा हुआ घी रखो, लेकिन पिघलना उसको [illegible]
है। रथनेमि जैसे चरमशरीरी जीव भी एक बार तो विचलित [illegible]
परिणाम जो होना था, वही हुआ कि वे तरुण मुनि अरणक उस [illegible]
रहने लगे मानो कि गृहस्थी बन गये।

है । यदि इस शुभ भावना में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की शुद्धि भी सम्मिलित हो जाये तो आत्मशुद्धि के साथ अतिशय पुण्य का संचय बनता है । कारण से कार्य की सिद्धि होती है, उसी रूप मे पुण्य के उपार्जन का कारण शुभ भावना हाती है । कारण और कार्य का संकेत प्रार्थना मे भी दिया गया है—

कारण जोगे हो कारज नीपजे रे,
एमां कोई न वाद ।
पण कारण बिन कारज साधिये रे,
ए निजमत उन्माद ।।
सम्भव देव ते धुर सेवो सवेरे,

कारण से कार्य होता है । यह सारे संसार के ज्ञानीजनों का निर्विवाद मत है । लेकिन विना कारण के कार्य बन जाय—ऐसा मत सही नहीं, उन्माद भरा होता है । दानदाता की भावना न देखकर सिर्फ अन्न का सयोग जुटाना और उससे धर्म पुण्य की वात कहना सम्यक् ज्ञानपूर्ण कथन नहीं है । इसलिये प्रार्थना मे कवि आनन्दघन जी ने जो सकेत दिया है, वह शास्त्रीय दृष्टिकोण से शुभ भावना को समक्ष रखकर दिया गया है ।

दान किसी को देने में पुण्य होता है लेकिन उसमे संशोधन है—जो दान विना किसी स्वार्थ या प्रतिदान की भावना रखे शुभता के साथ दिया जाय, उस दान से अवश्य पुण्य होता है । समझिये कि दान लेने वाला व्यक्ति एक भिखारी है, जो व्रत प्रत्याख्यान मे कुछ नही समझता, लेकिन उसको भी देते समय यदि आपकी भावना नि.स्वार्थ और अनुकम्पा युक्त है तो उससे अवश्य पुण्य होगा । साथ ही सम्यक्त्व की पुष्टि भी होगी । यह बात दूसरी है कि वह भिखारी उस दान को पाकर आगे क्या करेगा और क्या नही करेगा—उसका पाप दानदाता को लगने वाला नही है । कभी ऐसी कल्पना दौड़ जाती है कि आगे जाकर वह भिखारी अगर पाप करेगा तो उसका पाप दान देने वाले को भी लगेगा । यह कल्पना सत्य से परे की है ।

अरणक मुनि को उनके पिताजी आहार करवाते थे और वे मुनि आगे जाकर गृहस्थ बन गये तथा अनेक पापो का सेवन करने लगे [illegible] पापो का पाप उनके पिताजी को लगा ? यह तर्क कतई [illegible] है । [illegible] उस महिला की भावना पापपूर्ण थी और उसने स्वादिष्ट तथा [illegible] भी भिक्षा मे दिये—तब भी क्या वह पाप से बच [illegible] ? [illegible]

[illegible] अपनी भावना के अनुसार पुण्य या पाप का बंध करता है। जो शुभ भावना से और श्रद्धापूर्ण भक्ति से मुनिराज को भिक्षा दी जाती है [illegible] [illegible] के साथ महान् पुण्य का बंध होता है।

जिसको दान दिया है, वह भविष्य में क्या करेगा—इसकी [illegible] दान देते समय चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कभी आप किसी साधु को पकवान्न बहराते हैं और भविष्य में वह [illegible] पाप करने लग जाता है तो क्या आप उसके भविष्य के पाप के [illegible] बनेंगे? यह विचारणा या मान्यता गलत है। दातार उस रूप में पाप का भागी नहीं होता है, क्योंकि दान देते समय उसकी किसी रूप में पाप भावना नहीं होती है। इस कारण शुभ भावना से पुण्य का उपार्जन होता है—यह सामान्य प्रक्रिया है। भावना की कारण-भूतता को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं।

कारण और कार्य की समकालता—

कारण पहले होता है तब उसका कार्य बनता है। रसोई का सामान बर्तन वगैरह पहले होते हैं तब उनकी सहायता से रसोई तैयार की जाती है। ऐसा नहीं होता कि रसोई तो पहले अभी तैयार हो जाय और रसोई का सामान, बर्तन वगैरह फिर कभी भविष्य में लाए जायें। कारण तो भविष्य में प्रकट हो तथा कार्य वर्तमान में ही बन जाय—ऐसा नहीं होता है। दातार आज शुभ भावना से दान देता है, लेकिन जिसको दान देता है, वह भविष्य में कभी पापों का सेवन करता है तो उसका पाप भाव के दातार पर [illegible] यह कैसी विचित्र मान्यता है।

इनकी सुलभता होती है। एक व्यक्ति अपने प्राप्त पदार्थों में से आवश्यकता, श्रद्धा आदि के साथ शुभ भावना से किसी को दान देता है तो उतने पदार्थों पर से उसका ममत्व छूटता है जो स्वय त्याग का एक प्रकार है तथा इस त्याग से भी पुण्य का बध होता है। दूसरों को दान देते समय दानदाता की दान लेने वाले के प्रति जो करुणा, दया, सहानुभूति, श्रद्धा या निष्ठा होती है उस शुभ भावना का शुभ फल भी दान देने वाले को अवश्य मिलता है। जिस भावना से इन पदार्थों को किसी को देते है, तो उसका ममत्व-विसर्जन की दृष्टि से तत्क्षण फल मिल गया—ऐसा मान सकते है। भविष्य मे दान लेने वाला क्या कुछ करेगा—इसकी कल्पना आज करने की आवश्यकता नही है। लेने वाला भविष्य मे साधु वन गया तो आपको (दान देने वाले को) उसके साधुत्व का शुभ फल मिलने वाला नही है तथा दान लेने वाला भविष्य मे साधु से गृहस्थ वन जावे तो उसके पाप सेवन का पाप भी आप को लगने वाला नही है।

आप इस तथ्य को समझिये कि कारण से कार्य वनता है। भावना जैसी होगी, वैसा ही फल मिलेगा। इस दृष्टिकोण से भावना को शुभता से परिपूर्ण वनावे, अपने ममत्व का अधिकतम परित्याग करे तथा आदर्श भावना के साथ दान देवें तो आप अवश्य ही आत्मशुद्धि के साथ यथायोग्य महान् पुण्यो का सचय कर सकेंगे, जो आगे चलकर आत्मसाधना की स्थिति मे भी महान् सहायक वन सकेंगे।

मूलस्रोत स्वच्छ करिये :

जव मूल कारण भावना का माना गया है, तो यह आवश्यक है कि उस स्रोत का सवसे पहले संशोधन किया जाय जिससे भावना का प्रवाह प्रारभ होता है। वह स्रोत है मन और आत्मा तथा इस दृष्टि से मन और आत्मा को प्रगति का नया मोड़ दिया जाना आवश्यक है। मन और आत्मा नई जागृति से ओतप्रोत वनेंगे, तभी भावना मे समग्र शुभत्व का निर्माण किया जा सकेगा तथा इसी जागृति के आधार पर ही शरीर को धर्माराधना का साधन वनाया जा सकेगा।

मन और आत्मा जव विवेक एवं ज्ञान-पूर्वक जीवन का संचालन करने लगते है तो वे शरीर और इन्द्रियो को अपने संचालन एवं निर्देशन मे चलाते हैं। भावना की शुभता इस सचालन एव निर्देशन को शुभ दिशा मे ही मोडेगी जिसके कारण यह शरीर धर्मकार्यों मे नियोजित किया जायगा। तव यही शरीर जो विकार वढाने का कारणभूत होता है, आत्मशुद्धि एव धर्म साधना का कारण वन जायगा। शरीर के ऐसे सदुपयोग के वाद ही मानव-जीवन भी सार्थक वन सकेगा...

❖ 'समता के स्वर' ग्रंथमाला ❖

(आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. का प्रवचन-साहित्य)

१.	नव निधान	ब्यावर चातुर्मास प्रवचन	रु. १.२५
२.	पावस प्रवचन भा. १	जयपुर चातुर्मास प्रवचन	रु २ ५०
३.	„ भा. २	„ „	रु. २.५०
४.	„ भा. ३	„ „	रु ३.५०
५.	समता : दर्शन और व्यवहार		रु. ४.००
६.	ताप और तप	मंदसौर चातुर्मास प्रवचन	रु. २ ५०
७.	आध्यात्मिक आलोक	बीकानेर चातुर्मास प्रवचन	रु. १.५०
८.	आध्यात्मिक वैभव	„ „ „	रु. १.५०
९.	शांति के सोपान	ब्यावर चातुर्मास प्रवचन	रु ३.२५
१०.	पावस प्रवचन भा. ४	जयपुर चातुर्मास प्रवचन	रु. ५.००
११.	„ भा. ५	„ „ „	रु. ५.५०
१२.	प्रेरणा की दिव्य रेखाएं	देशनोक चातुर्मास प्रवचन	रु ४.००
१३.	प्रवचन-पीयूष	„ „ „	रु. ६.७५

सम्पर्क—

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग

बीकानेर (राज०)

धर्ममय दीपावली का पवित्र वायुमण्डल

धर्म जिनेश्वर गाऊं रगशु, भंग न पड़शो हो प्रीत ।

बीजो मन-मन्दिर आणु नही, ए श्रम कुलवट रीत ।।

प्रार्थना के पवित्र प्रसग से तीर्थंकर देवो के विशिष्ट गुणो का स्मृति-पटल पर उभर कर आना-यह जीवन के लिये अति ही हितावह है । जीवन के सम्बन्ध मे कई तरह की बातें सुनने को मिलती है । जितनी बाते मनुष्य सुनता और देखता है, उतनी ही बातों के संस्कार उसके मस्तिष्क मे जम जाते है । जिस प्रकार के वायुमण्डल मे वह अपना जीवन व्यतीत करता है, उसके अनुरूप उसके जीवन का निर्माण हो जाता है ।

अधिकांश मानवो की जीवन-स्थिति उत्तम दृष्टिकोण की नही होती है, क्योकि वैसा उत्तम वायुमडल नही रहता है । वे साधारण जीवन-पद्धति को लेकर जीते है और वैसो साधारण बाते ही उनके जीवन के लिये महत्त्व-पूर्ण बन जाती हैं । उनकी ज्ञान-शक्ति उनके साधारण कार्यो तक ही सीमित हो जाती है । उनकी दिनचर्या भी उसी के अनुसार ढल जाती है । परिवार मे रहते हुए थोडा भी जो ऊंचा-नीचा वातावरण होता है तो उसका उन पर असर पडता है और वे अपनी भावनाओ मे उस दृष्टि से ऊंचे-नीचे वहते रहते हैं । दादाजी या पिताजी गुस्सा करते है, झूठ बोलते हैं या बीड़ी सिग-रेट पीते है तो वे सस्कार बच्चे के मन पर भी जम जाते है । बडो की बातो को परिवार के अन्य सदस्य ग्रहण कर लेते है । ये बातें चाहे उनकी व्यक्तिगत

आदतों की होती हैं या उनके व्यापार–धंधे से सम्बन्धित होती है। इ
के क्लेश, झंझट और प्रपंच शुरु से बच्चा देखता है और वह भी उन्हे
को 'तेरी–मेरी' में ढाल लेता है। बच्चे को जैसा वायुमंडल मिलता है,
का वह अनुसरण करता है। यदि वायुमंडल धर्ममय मिले तो वह अपने
को भी प्रारम्भ से धर्ममय बनाने लग जायगा। किन्तु ऐसा वायुमंडल
परिवारों मे ही मिलता है। अधिकांश तो सांसारिक विकारों से जकड़े
है और वह विकारमय वायुमंडल पीढ़ी दर पीढी चलता रहता है।

वायुमण्डल का गहरा असर—

अधिकांश परिवारो में और सामान्य रूप से सामाजिक तथा र
वातावरण में एक दूसरे का माथा फोड़ने की बातें ही ज्यादा चलती हैं।
द्वेष, मोहमाया के विकार सिर पर छाये हुए रहते है और इस प्रका
तरफ विकृत वायुमण्डल का ही गहरा असर फैला हुआ रहता है। उस
से आने वाले जीवन मे भी वैसे ही संस्कारो का निर्माण होता रहता है
मनुष्य की सारी जिन्दगी ऐसे विकृत संस्कारों से भर जाती है और फिर
अपने जीवन में शुभ परिवर्तन लाने को कहा जाता है तो यह उसके लि
कठिन कार्य बन जाता है।

यही कारण है कि सन्त महात्मा उपदेश देते हैं और जीवन को
मय बनाने की बातें बताते हैं, तब भी उल्लेखनीय परिवर्तन एकाएक द
गोचर नहीं होता है। यदि किसी से कहा जाय कि प्रपंच की बातें छो
तो वह हठात् कहां छोड़ पाता है? सारी जिन्दगी भर प्रपंच किया तो
प्रपंच को छोड़ने की बात उसके दिल–दिमाग मे एकदम बैठती नही है।
जब और पुत्र अपने वृद्ध पिता को कहते हैं कि वे प्रपंच छोड़कर अपने
को धर्ममय बनालें, तब भी यह बात उनके दिल मे जमती नही है। जिन
से उन वृद्धों ने सारी जिन्दगी व्यतीत की है, वे बातें उनको बार-बार
आती रहती है। वे अंधकारपूर्ण बातें जीवन मे गिरावट लाती हैं। उस
मे अगर उनकी चेतना जग जाय, तब ही सुधार की आशा बंध सकती है

विकृत संस्कारो मे परिवर्तन लाने और जीवन को सुधारने मे प्र
का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है। प्रभु की प्रार्थना का पवित्र प्रभाव
अन्तःकरण मे जम जाता है तो पवित्र संस्कार अपना शुभ प्रभाव डालना
कर देते है। तब वायुमण्डल धर्ममय बनने लगता है और धर्म की दिशा में
प्रगति प्रारम्भ होती है।

जीवन में जब धर्म के संस्कार ढलने लग जाते हैं तो उस मनुष्य की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियो मे शुभता का प्रवेश होता है। शुभ विचारो के साथ उसमे शुभ जिज्ञासा पैदा होती है। वह ज्ञान के क्षेत्र में भी आगे बढता है और तत्त्वो का विश्लेषण भी करने लगता है। ज्यो–ज्यो उसका तात्त्विक ज्ञान पुष्ट होता है, त्यो त्यों वह धर्म का अधिकाधिक प्रभावपूर्ण रीति से प्रतिपादन करता है। इसी रूप मे जब धर्म का वायुमडल अधिकाधिक लोगों को प्रभावित करने लगता है, तब ही जाकर परिवार से समाज और राष्ट्र में धर्ममय वायुमंडल का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा धर्ममय-वायुमडल व्यापक रूप से जब प्रभाविक बन जाता है तो उसके प्रभाव से फिर अधिकांश लोगों के जीवन में शुभ सस्कारों का सहज परिवर्तन लाया जा सकता है। यह समझ लीजिये कि वायुमडल का सामान्य जीवन पर गहरा असर पड़ता है। इस कारण धर्म की दिशा मे प्रगति करने के लिये धर्ममय वायुमडल का निर्माण आवश्यक है।

धर्मशरण से कर्मक्षय एवं गुणस्थानों का क्रम—

धर्मनाथ भगवान् की प्रार्थना के प्रसग से धर्म का विवेचन किया गया है कि दुनिया मे सभी धर्म की बात करते है, लेकिन धर्म का मर्म विरले ही जानते है। कहा भी है—

> "धर्म–धर्म सहु कोई, कहे, मर्म न जाने कोय।
> यदि मर्म को जान ले, तो कर्मबन्ध न होय ।।"

जिन्होने धर्म के मर्म तथा धर्म के मूल को जान लिया है और धर्मनाथ भगवान् व उनके धर्म की शरण ग्रहण करली है, उनका कर्म–बन्धन हल्का पडता जाता है। धर्ममय जीवन के कारण वे अधिकाधिक अशुभता से बचते है तो कर्म–बन्धन से भी बचते रहते हैं। सच्चे अर्थों मे धर्म जिनेश्वर की, जिन्हो ने परिपूर्ण रूप से शरण ले ली है अर्थात् धर्म जिनेश्वर के तुल्य अपने चारित्र का निर्माण कर लिया है, वे फिर कर्म नही बांधते है और कुछ कर्म बंधते हैं तो वे कर्म उन्हे उन्नति की ओर बढाने वाले होते है। वे कर्म उनके जीवन मे विशेष पवित्रता की उपलब्धि कराने वाले और स्वल्पकाल में आत्मा से छूटने वाले होते है।

कर्म–बन्धन का सिलसिला पहले गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक चलता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान को वीतराग गुणस्थान भी कहते हैं, क्यो कि उनमे वीतराग अवस्था के योग की प्रवृत्ति होती है। जो

आदतों की होती है या उनके व्यापार–धंधे से सम्बन्धित होती है। इस तरह के क्लेश, झंझट और प्रपंच शुरु से बच्चा देखता है और वह भी अपने जीवन को 'तेरी–मेरी' में ढाल लेता है। बच्चे को जैसा वायुमण्डल मिलता है, उसी का वह अनुसरण करता है। यदि वायुमंडल धर्ममय मिले तो वह अपने जीवन को भी प्रारम्भ से धर्ममय बनाने लग जायगा। किन्तु ऐसा वायुमण्डल विरले परिवारों में ही मिलता है। अधिकांश तो सांसारिक विकारों से जकड़े रहते हैं और वह विकारमय वायुमंडल पीड़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

वायुमण्डल का गहरा असर—

अधिकांश परिवारों मे और सामान्य रूप से सामाजिक तथा राष्ट्रीय वातावरण में एक दूसरे का माथा फोडने की बातें ही ज्यादा चलती हैं। राग-द्वेष, मोहमाया के विकार सिर पर छाये हुए रहते हैं और इस प्रकार सब तरफ विकृत वायुमण्डल का ही गहरा असर फैला हुआ रहता है। इस प्रकार से आने वाले जीवन मे भी वैसे ही संस्कारो का निर्माण होता रहता है। वह मनुष्य की सारी जिन्दगी ऐसे विकृत सरकारों से भर जाती है और फिर उसको अपने जीवन मे शुभ परिवर्तन लाने को कहा जाता है तो यह उसके लिये एक कठिन कार्य बन जाता है।

यही कारण है कि सन्त महात्मा उपदेश देते हैं और जीवन को धर्ममय बनाने की बाते बताते हैं, तब भी उल्लेखनीय परिवर्तन एकाएक दृष्टिगोचर नहीं होता है। यदि किसी से कहा जाय कि प्रपंच की बातें छोड़ दो तो वह हठात् कहां छोड़ पाता है? सारी जिन्दगी भर प्रपंच किया तो उस प्रपच को छोडने की बात उसके दिल–दिमाग में एकदम बैठती नहीं है। यदि स्वजन और पुत्र अपने वृद्ध पिता को कहते हैं कि वे प्रपंच छोड़कर अपने जीवन को धर्ममय बनावें, तब भी यह बात उनके दिल मे जमती नहीं है। जिन बातों से उन वृद्धों ने सारी जिन्दगी व्यतीत की है, वे बातें उनको बार-बार याद आती रहती हैं। ये अंधकारपूर्ण बातें जीवन मे गिरावट लाती हैं। उस अवस्था में अगर उनकी चेतना जग जाय, तब ही सुधार की आशा बंध सकती है।

विकृत संस्कारों में परिवर्तन लाने और जीवन को सुधारने में प्रार्थना का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है। प्रभु की प्रार्थना का पवित्र शब्द जब अन्तःकरण में उतर जाता है तो पवित्र संस्कार अपना शुभ प्रभाव दिखाना शुरू कर देते हैं। तब वायुमण्डल धर्ममय बनने लगता है और धर्म की दिशा में प्रगति प्रारम्भ होती है।

जीवन में जब धर्म के संस्कार ढलने लग जाते हैं तो उस मनुष्य की वृत्तियों एव प्रवृत्तियो में शुभता का प्रवेश होता है। शुभ विचारो के साथ उसमे शुभ जिज्ञासा पैदा होती है। वह ज्ञान के क्षेत्र में भी आगे वढता है और तत्त्वो का विश्लेषण भी करने लगता है। ज्यों-ज्यो उसका तात्त्विक ज्ञान पुष्ट होता है, त्यो त्यों वह धर्म का अधिकाधिक प्रभावपूर्ण रीति से प्रतिपादन करता है। इसी रूप मे जव धर्म का वायुमडल अधिकाधिक लोगों को प्रभावित करने लगता है, तव ही जाकर परिवार से समाज और राष्ट्र मे धर्ममय वायुमंडल का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा धर्ममय वायुमडल व्यापक रूप से जव प्राभाविक वन जाता है तो उसके प्रभाव से फिर अधिकांश लोगो के जीवन में शुभ सस्कारों का सहज परिवर्तन लाया जा सकता है। यह समझ लीजिये कि वायुमडल का सामान्य जीवन पर गहरा असर पड़ता है। इस कारण धर्म की दिशा मे प्रगति करने के लिये धर्ममय वायुमंडल का निर्माण आवश्यक है।

धर्मशरण से कर्मक्षय एवं गुणस्थानों का क्रम—

धर्मनाथ भगवान् की प्रार्थना के प्रसग से धर्म का विवेचन किया गया है कि दुनिया मे सभी धर्म की बात करते है, लेकिन धर्म का मर्म विरले ही जानते है। कहा भी है—

> "धर्म-धर्म सहु कोई, कहे, मर्म न जाने कोय।
> यदि मर्म को जान ले, तो कर्मवन्ध न होय ॥"

जिन्होने धर्म के मर्म तथा धर्म के मूल को जान लिया है और धर्मनाथ भगवान् व उनके धर्म की शरण ग्रहण करली है, उनका कर्म-वन्धन हल्का पडता जाता है। धर्ममय जीवन के कारण वे अधिकाधिक अशुभता से वचते है तो कर्म-वन्धन से भी वचते रहते हैं। सच्चे अर्थों मे धर्म जिनेश्वर की, जिन्होने परिपूर्ण रूप से शरण ले ली है अर्थात् धर्म जिनेश्वर के तुल्य अपने चारित्र का निर्माण कर लिया है, वे फिर कर्म नही वांधते है और कुछ कर्म बंधते हैं तो वे कर्म उन्हे उन्नति की ओर वढाने वाले होते है। वे कर्म उनके जीवन मे विशेष पवित्रता की उपलब्धि कराने वाले और स्वल्पकाल मे आत्मा से छूटने वाले होते है।

कर्म-वन्धन का सिलसिला पहले गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक चलता है। ग्यारहवें, वारहवें और तेरहवें गुणस्थान को वीतराग गुणस्थान भी कहते हैं, क्योंकि उनमे वीतराग अवस्था के योग की प्रवृत्ति होती है। जो

योग-जनित कर्म बंधते है, उनके उतने और वैसे ही कर्म बंधते हैं। एक समय के लिये पुण्य कर्म बंधता है और दूसरे समय मे झड़ जाता है। जब तक योग की प्रवृत्ति होती है, तब तक कर्म-बंधन का सिलसिला शुभ या अशुभ रूप में चलता रहता है। लेकिन वीतराग देवों का कर्म-बंधन शुभ ही होता है। सत्‌ जीवन वृत्ति अंगीकार करने पर यदि साधक शुभ योग से चले तो उसके जीवन मे शुभता ही रहती है। एक साधक जैसे-जैसे ऊपर के गुणस्थानों पर आरोहण करता जाता है, वैसे-वैसे अशुभ कर्म हटते जाते है और पुण्यकर्म बंधते जाते है। पुण्य कर्म भी दीर्घकाल की स्थिति वाले नहीं होते हैं। वे अल्प-स्थिति वाले होते है ताकि केवल ज्ञान की उपलब्धि में वे बाधक नहीं हो सकें। वे मोक्ष गमन के समय तुरन्त आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस प्रकार उच्च गुणस्थानों में हल्के कर्म बंधते हैं। इस रूप में कर्म-बंधन का सिलसिला चालू रहने पर भी धर्मनाथ भगवान्‌ की चरण-शरण ग्रहण की जा सकती है क्योंकि धर्मशरण से ही कर्मक्षय का सिलसिला शुरु होता है जो अन्तिम गुणस्थानों में आत्मा को पहुंचा कर उसे सम्पूर्णतया कर्मों से मुक्त बना देता है।

धर्म के दो चरण तथा सम्यक्‌दृष्टि आत्मसाधना—

सभी तीर्थंकरों ने एक ही स्वर से धर्म के दो चरण बताये हैं— एक श्रुत धर्म तथा दूसरा चारित्र धर्म। इन दोनों धर्मों में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। यह दो चरण वाला धर्म समुद्र के तुल्य है। नदियां अलग-अलग बहती हैं, लेकिन समुद्र मे मिल जाने के बाद सभी नदियों का समावेश समुद्र में हो जाता है। वैसे ही अलग अलग रूप से एकान्त रूप से अलग-अलग मान्यताएं चलती हैं। समूचा एकान्तवाद धर्म के विषय में [illegible] घातक होता है, लेकिन समन्वयवादी उनमे रहे हुए सत्यांशों को ग्रहण करता हुआ धर्म के परिपूर्ण स्वरूप को समझ लेता है। वह हंस की तरह आचरण करता है—केवल मोती चुगता है। ऐसी हंस वृत्ति एक सम्यक्‌ दृष्टि आत्मा की होती है।

एक सम्यक्‌ दृष्टि आत्मा सापेक्ष दृष्टि से वस्तु-स्वरूप को समझती है तथा धर्म के मर्म को भी पहिचानती है। इस दृष्टि से उसका मन [illegible] में मगन होता है। सत्य की ओर प्रगतिशील हो जाने से उसके कर्म-बन्धन का सिलसिला मन्द पड़ जाता है। जो आत्मा धर्म जिनेश्वर के चरणों में [illegible] उसका कर्म-बन्धन होना भी इस माने में नहीं जैसा हो जाता है। [illegible] कि [illegible] ज्ञान का एक बहुत बड़ा [illegible] रहा हुआ हो, [illegible]

दियासलाई की एक तूली मात्र से ही भस्मीभूत हो जाता है, उसी प्रकार एक सम्यक्‌दृष्टि आत्मा जब साधना के पथ पर अग्रसर होती है तो वह कर्मों के विशाल पुंज मे शुभाध्यवसाय रूप एक चिनगारी मात्र डाल देती है। तब कर्मों का संलग्न पुंज और आने वाला समूह दोनो का क्षय हो जाता है। सम्यक्‌दृष्टि आत्मा की धर्म-साधना ऐसी प्रभावपूर्ण होती है।

जहा धर्म एव प्रार्थना की दृष्टि से इस जीवन में पवित्र वायुमंडल का प्रसग सदा ही रहना चाहिये और मैं तो यहां तक सोचता हूं कि एक समय के लिये भी सम्यक्‌दृष्टि आत्मा को इस पवित्रता से रहित नहीं बनना चाहिये। वहां यदि इतना शक्य नही हो, तब भी वायुमडल की पवित्रता का ध्यान तो बराबर बना ही रहना चाहिये। एकदम पवित्र वायुमडल प्रत्येक व्यक्ति के बूते की बात नहीं होती है। विशिष्ट साधना करने वाले व्यक्ति भी कभी-कभी कठिनाइयो के सामने घबरा जाते है। इसलिए सामान्य जन प्रति-दिन अपने जीवन के लिये पवित्र वायुमडल का निर्माण नहीं कर सके, तब भी यदाकदा जब विशेष दिन आते हैं, उन दिनो मे तो उन्हे पवित्र वायुमडल के निर्माण का शुभ प्रयास अवश्य करना चाहिये। जैसे सभी लोगो के लिये प्रतिदिन मिठाई खाने का प्रसग नही आता है, फिर भी त्योहार के दिनो मे तो वे भी मिठाई खाते है, उसी प्रकार विशिष्ट दिवस के अवसर पर उन्हे पवित्रता का विशेष खयाल करना चाहिये। धर्म के इन दो चरणो को जितनी दृढता से पकडने का प्रयास किया जायगा, उतनी ही आत्मा की पवित्रता मे वृद्धि होगी तथा उतने ही श्रेष्ठ एव पवित्र वायुमडल का निर्माण हो सकेगा।

लौकिक एवं लोकोत्तर दीपमालिका का रूप—

कल दीपमालिका का दिन है तो इस अवसर पर आप लोगो की क्या भावनाएं उमडती है? धन तेरस, रूप चउदस और दीपमालिका यत्र तत्र-सर्वत्र मनाई जाती हैं लेकिन धन किस तरह का, रूप कैसा और दीपमालिका का अन्तर्रहस्य क्या है? आत्मा के सन्दर्भ मे इन त्योहारो के महत्त्व की खोज की जाय तो पवित्र वायुमडल बनाने मे विशेष योगदान मिल सकता है।

दीपमालिका के कुछ दिन पूर्व से ही आप लोग मकानों की सफाई मे लग जाते है, घर और दूकानो को सजाते हैं, विशेष पक्वान्न बनाते है तथा द्रव्य रूप लक्ष्मी की पूजा करते है। इन दिनो मे बाहर के आनन्द मे इतने रम जाते है कि दूसरे कामो के लिये फुरसत नहीं मिलती है। चारो ओर रोशनी करने मे, बाजारों को सजाने मे और धन की लालसा मे सब व्यस्त

हो जाते हैं। हलवाइयों के यहां से मिठाइयां खरीदते हैं तो यह ध्यान नहीं रहता कि उसने कितने अविवेक से वे मिठाइयां बनाई होंगी और कितने छोटे-मोटे जीवों की हिंसा की होगी? अपने बाल-बच्चों को पटाखे छोड़ने के लिये दिलवाते हैं तो यह भूल जाते हैं कि इन पटाखों से कितनी हिंसा होगी और दूसरे प्रकार से भी कितनी हानि होगी? अच्छे कपड़ों और घर की सजावट में इतने मस्त हो जाते हैं कि अपने पड़ोसी के दुःख-दर्द को भी नहीं देख पाते हैं। आपके सारे प्रदर्शन से कितने विकारों का पोषण हो रहा है—इस तरफ भी आम तौर पर ध्यान नहीं जाता है। तो क्या यह किसी त्यौहार को मनाने का स्वस्थ तरीका है? क्या इस विधि से पवित्र वायुमंडल का निर्माण किया जा सकता है?

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब एक ओर से विकारों का प्रवाह चलता है तो दूसरी ओर से भी विकारों का ही प्रवाह फूटता है। इस प्रकार वायुमंडल अपवित्र बनता है। अपने मन की भावना तथा उसके प्रभाव का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति चाहे तो कर सकता है। मनुष्य किन विचारों में बह रहा है तथा सामने वाले व्यक्ति को किस रूप में प्रभावित बना रहा है, इसकी गन्ध उसके श्वास में भी मिल सकती है। उस श्वास के दृष्टिकोण को समझने का अभ्यास मनुष्य को नहीं है, इसलिये वह पहिचान नहीं पाता कि विकारी व्यक्ति की नाक से कैसी गंध आती है और निर्विकारी व्यक्ति की नाक की गन्ध कैसी होती है? यह श्वास बड़ी चीज है और आन्तरिक भावों की शक्ति से बनती है। ये श्वासें मिलकर वायुमंडल बनाती हैं। इस वायुमंडल का फिर व्यापक प्रभाव पड़ता है और वह मनुष्य की भावनाओं के साथ-साथ चलता है। सोचें कि एक व्यक्ति पवित्र भावों में बैठा हुआ है और सहसा अपवित्र भावों का वेग उधर आ जाता है तो उसके पवित्र वायुमंडल के कारण यह वेग पवित्र बन सकता है, लेकिन इन प्रक्रियाओं को समझना साधारण जन के लिये कठिन होता है।

आत्मा की दीपमालिका को इस संदर्भ में देखना चाहिये कि विकारों की सफाई और हो पवित्र भावों की सजावट हो। सद्गुण रूपी धन आत्मा में कितना है, अपनी भावनाओं का रूप कैसा है तथा आत्म-लक्ष्मी की पूजा किस विधि से की जाय—इस ओर ध्यान जाना चाहिये। भाव-शुद्धि जब होती है, तभी सच्चे प्रकार से भावों और पवित्र वायुमंडल का प्रसार होता है।

भावों का प्रभाव एवं भावशुद्धि का महत्व—

[illegible] अपनी स्थिति से अनुभव करते हैं कि [illegible]

यह है कि इस दिन भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय पा
पुरी देवताओं के विमानों से प्रकाशित हो उठी तो उसी परम्परा में दीप
का त्यौहार प्रकाश-प्रसार रूप में आयोजित किया जाने लगा।

यही नहीं, दीपावली की रात्रि को प्रभु महावीर के अन्तिम
शब्द उनके मुख से उद्भूत हुए, जिन्हें उनकी अंतिम देशना के नाम से ज
जाता है। जब प्रभु के निर्वाण का प्रसंग आया, तब उन्होंने उत्तराध्ययन
में क्या-क्या फरमाया, उनके अंतिम शब्द क्या-क्या निकले तथा उस स
क्या-क्या विशिष्ट घटनाएं घटित हुईं—यह एक विस्तृत विषय है।

प्रभु महावीर का अंतिम चातुर्मास पावापुरी में महाराजा हस्ति
की कचहरी में हुआ था। महाराजा शासननिष्ठ थे। इस पवित्र शासन
विषय में कई लोगों का चिन्तन चलता था। कई बड़े-बड़े साधक भगवान्
आज्ञा में विद्यमान थे, लेकिन भविष्य में महावीर का शासन किस प्र
चलेगा—इसकी प्रतिच्छाया स्वरूप उस समय महाराज हस्तिपाल को आठ स्व
दिखाई दिये। वे स्वप्न बड़े विचित्र थे और उन्होंने उन स्वप्नों को भग
के सामने प्रस्तुत किया, जिनका अर्थ स्वयं भगवान् ने स्पष्ट किया।

इस सम्बन्ध में कविता की कड़ियां इस प्रकार से हैं—

हस्तिपाल के स्वप्न अर्थ वीर बतादिया जी....
अन्तिम धर्म देशना दे के मोक्ष पधारिया जी....

पावापुरी में प्रभुजी आस
हस्तिपाल कचहरी आवास
गौतमादिक संग चरम चौमास

आठ स्वप्न देखे है, वे विचित्र हैं। कृपा करके उनका अर्थ बतावें। तब एक-एक करके उन्होने स्वप्नो का वर्णन करना आरम्भ किया। यह वर्णन कविता मे है—

प्रभु मैं देख्या स्वप्न आठ
करि कपि क्षीर तरु का काठ
पायस सिह कमल का ठाठ

बीज और कुंभ आठवां देखि, भय मन पाविया जी
हस्तिपाल के स्वप्न अर्थ वीर बताविया जी

उन्होने पहले स्वप्न मे एक सुन्दर तथा दीर्घकाय हाथी को देखा, लेकिन वह कीचड़ के बीच मे फसा हुआ छटपटा रहा था। दूसरे स्वप्न में एक लाल मुंह का बन्दर देखा, जो बगीचे की शोभा को उजाड रहा था। तीसरे स्वप्न मे उन्हे ऐसा कल्पवृक्ष दिखाई दिया, जो कोई भी मनवाछित फल नही दे पा रहा था। चौथे स्वप्न मे एक कौआ सुरुचिपूर्ण भोजन को छोड़कर वमन और विष्टा पर टूट पड रहा था। पाचवे स्वप्न मे उन्होने ऐसे सिह को देखा, जिसके शरीर मे अनेक फोड़े हो रहे थे और उनमे कीड़े पड गये थे, जिनके कारण वह तिलमिला रहा था। छठे स्वप्न मे उन्होने पानी मे नही, उखरडी याने गन्दगी के ढेर पर उगे हुए कमल को देखा तो सातवे स्वप्न मे यह दृश्य देखा कि लोग ऊसर जमीन मे भी बीज बोए जा रहे है। आठवें स्वप्न मे उन्होने एक कुभ कलश को कोने मे उपेक्षित पडा हुआ देखा।

महावीर प्रभु ने इन स्वप्नों को सुना और फरमाया—राजन्, ये स्वप्न तुम्हारा पवित्र जीवन होने से तुम्हे दिखाई दिये है। तीर्थंकरो के शासन मे भविष्य मे क्या होने वाला है—ये स्वप्न इस बात की सूचना देने वाले है। इन स्वप्नों का अर्थ कविता की कड़ियो मे इस प्रकार है—

पाकर क्षणिक ऋद्धि का सुख
होगे विमूढ धर्म—विमुख
घर मे रह कर देगे दुःख

पर-चक्री भय पाय, न छोड़े घर [illegible] जी
हस्तिपाल के स्वप्न अर्थ वीर बताविया जी।

भगवान् ने आठों स्वप्नों के भविष्य-सूचक अर्थ [illegible]

राजन्, पंचम काल में श्रेष्ठ पुण्यशाली प्राप्त करके भी मनुष्य [illegible]
कीचड़ में फंसे हुए रहेंगे और उनकी वह अवस्था दयनीय दिखाई देगी। [illegible]
छोड़ कर संयम की आराधना उनके लिए कठिन होगी। दूसरे स्वप्न के [illegible]
बन्दरों के समान अलग-अलग गच्छों के नायक होंगे जो अपनी [illegible]
से शासन रूपी उद्यान की शोभा को संवारेंगे कम और बिगाड़ेंगे ज्यादा। [illegible]
स्वप्न में कल्पवृक्ष की तरह उदारवृत्ति वाले श्रावक होंगे किन्तु वे [illegible]
व्यक्तियों से घिरे रहेंगे कि उनकी उदारता का लाभ सामान्य [illegible]
मिल सकेगा। कौए की तरह साधु धर्म अंगीकार करके भी कई [illegible]
रिक सुखों की वांछा करते रहेंगे तथा पुनः गृहस्थ बन जाने को [illegible]
जायेंगे। सिंह की तरह वीतराग वाणी प्रभावपूर्ण रहेगी किन्तु इस वाणी
अनुगामियों का जीवन उस सिंह के फोटो की तरह विकृत बन जायगा [illegible]
इस कारण शासन के श्रेष्ठ सिद्धान्तों की क्षति भी होगी। उकरड़ी पर [illegible]
उगने का अर्थ है कि उत्तम कुलों के बाल-बच्चे भी कुव्यसनों [illegible]
पीने में लिप्त हो जायेंगे। ऊसर भूमि में बीज बोने के स्वप्न का [illegible]
यह है कि लोग अपने धन आदि का सद्व्यय नहीं करेंगे और [illegible]
करेंगे। पाप की कमाई पाप-कार्यों में ही खर्च होगी। इस प्रकार [illegible]
इन स्वप्नों के सन्दर्भ में प्रभु ने पंचम काल का बताया।

आज वही पंचम काल चल रहा है और आप [illegible]
फल आज घटित होता हुआ देख सकते हैं। उपेक्षित [illegible]
मान मूल व्रतों के प्रति उपेक्षा करके ऊपर के आडम्बरों को [illegible]
देने की प्रेरणा दी जाती है। यह सब कुछ आज का जो [illegible]
अत्यधिक दूषित हो गया है, जिसे पवित्र बनाने के सच्चे प्रयास [illegible]
चाहिये।

निर्वाण और ज्योति

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशु'........

परमात्मा के पवित्र स्वरूप को देखने के लिये योग साधना की आवश्यकता होती है। इस साधना के परिणाम स्वरूप ही आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को भलीभाति पहिचान सकते है। इस संसार मे अनेक प्रकार के प्राणी अलग-अलग रूप से अपूर्व खोज करने मे लगे हुए है। ऐसी खोज के माध्यम से कइयो ने कई उपलब्धिया प्राप्त की और कइयो ने ऐसा अंजन भी प्राप्त कर लिया, जिसे उन्होने अपने नेत्रो मे आजा तो उनके सामने भीतर-बाहर, दूर-नजदीक, खुला-छिपा सभी कुछ स्पष्ट हो गया। उनसे कुछ भी अज्ञात नही रहा कि आन्तरिक निधि मे क्या है तथा बाहर की भी क्या-क्या निधिया कहा-कहा रखी हुई है ?

यह भी एक अपूर्व विज्ञान है। मानव के मन-मस्तिष्क से विज्ञान के आविष्कार समय-समय पर होते रहते हैं। जिस युग में जिस विज्ञान का आविष्कार बनता है, उस युग मे वह विज्ञान विशेष रूप से चमकता है। एक युग ऐसा भी था और आज भी कुछ मात्रा मे है कि अमुक पदार्थ को नेत्रों के साथ सयुक्त करने पर गुह्य से गुह्य वस्तुए भी देखी जा सकती हैं। इस वैज्ञानिक युग मे भी वैज्ञानिको ने कुछ ऐसे यत्रो का आविष्कार कर लिया है, जिन यत्रो के माध्यम से जमीन के भीतर या दीवारो मे छिपे हुए धातुओ का पता लगाया जा सकता है। यह तो बाहरी नेत्रो तथा बाहरी वस्तुओं का विषय है लेकिन योगो का साधक अपने भीतरी नेत्रो को खोलता है, उन्हें

ज्योति सम्पन्न बनाता है तथा आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप से [illegible] करता है ।

आंतरिक नेत्र-अंजन :

वस्तुतः मनुष्य अपनी योग साधना में उस अंजन की खोज [illegible] है, जिसको लगा कर वह अपने आन्तरिक नेत्रों से आन्तरिक निधि [illegible] करने लग जाय । जब उस स्थायी तत्त्व को वह पकड़ लेता है तो [illegible] के महाभयों पर और मृत्यु के महाभय पर भी विजय प्राप्त कर लेता है । मृत्यु का महाभय ऐसा है, जिसे धन या ऐश्वर्य के बल पर जीता नहीं जा सकता है । इसे आन्तरिक शक्ति से ही जीत सकते हैं और जब इसे जीत लेते हैं तो अमरता प्राप्त हो जाती है ।

मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेने से अनन्त एवं शाश्वत सुखों का द्वार खुल जाता है । आन्तरिक निधि का दर्शन इस लोक और परलोक को [illegible] बना देता है । अतः ज्ञानी जनों के कथनानुसार ऐसे अंजन की खोज [illegible] चाहिये जिससे परम श्रेष्ठ निधि की खोज हो सके और ऐसा भण्डार [illegible] मिल सके कि धन निकालते रहो और भीतर धन बढ़ता रहे । ऐसे [illegible] अगर प्राप्त करना है तो कवि ने इशारा [illegible] दिया है —

> प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे,
> देखे परम निधान ।
> हृदय नयन निहाले जगधणी,
> महिमा मेरु समान ॥

बाहरी अंजन तो नेत्रों में आंजा जाता है, लेकिन सद्गुरुओं के द्वारा [illegible] अंजन को प्राप्त करो और किस प्रकार आंजें ? प्रवचन [illegible] है [illegible] वीतराग देवों के [illegible] की [illegible] और [illegible] करते हैं । [illegible]

[illegible] आन्तरिक नेत्रों [illegible]

[illegible] होती है ।

[illegible] प्रवचन [illegible]

[illegible] हो जावेंगे । [illegible]

[illegible] और परमात्मा [illegible] होता है । [illegible]

[illegible]

वाले परमात्मा के दर्शन होंगे। इस साक्षात्कार से आत्मा को भव्य शान्ति और सन्तुष्टि मिलेगी। आत्मा भयमुक्त बन जायगी तथा सारे दुःख द्वन्द्वों से उसका पिंड छूट जायेगा। उस जीवन में एक अलौकिकता व्याप्त हो जायगी। लेकिन यह सब होगा आन्तरिक नेत्रो में ज्योति भर लेने के बाद। यह ज्योति अखूट होती है। इस ज्योति का अंजन आप भी हृदय में उतारिये और आंखो में लगाइये।

मन के शत-शत दीप जले :

आन्तरिक निधि की उपलब्धि तथा अन्तःकरण का जगमग प्रकाश ही इस तथ्य के प्रमाण हैं कि मन के शत-शत शुभ भावों के दीप जल उठे हैं। वास्तव में ऐसे दीप की अवलियां ही सच्ची दीपावली का कारण बन सकती हैं। मन का दीप ऐसा होता है, जिससे अनेकानेक मनो के दीपकों को प्रज्वलित किया जा सकता है। एक जागृत मन जागृति का वायुमण्डल बना सकता है। जैसे विद्या का भंडार खर्च करने से बढता है, वैसे ही लौ से लग-लग कर मन के शत-शत दीप जल उठते हैं।

भावना और ज्ञान का यह प्रकाश आन्तरिक निधि में से प्रस्फुटित होता है। जो ऐसी आन्तरिक निधि को प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये दुनिया के ये सारे बाहरी द्रव्य एकदम गौण और महत्त्वहीन हो जाते हैं। संसार का ऊंचा से ऊंचा पद भी उन्हें इस निधि से नीचा दिखाई देता है। राष्ट्रपति का पद कितना ही ऊंचा कहलाता हो, लेकिन गुणस्थान की उच्चतर श्रेणियों की तुलना मे भला इस पद का क्या मूल्य है ? लेकिन मनुष्य की प्रतिभा की परख भी इसी मे है कि वह इस मूल्य को सही तरीके से समझ सके और हृदयगम कर सके। जिसकी प्रतिभा अन्तर्मुखी बन जाती है, वह बाहरी पदो से या उपलब्धियो से प्रभावित नही होता है। उसकी तन्मयता तो आन्तरिकता का मूल्याकन करने मे लगी रहती है। लेकिन जो अपनी प्राप्त बुद्धि को भी बाहर ही बाहर दौडाता है, वह बाहर के पदों के पीछे भटकता रहता है। आप देखते हैं कि कई व्यक्ति एम. एल. ए. या एम. पी बनने के लिये अथवा अन्य बाह्य उपाधियो के लिए कितने धन, बुद्धि और शक्ति का व्यय करते हैं ? फिर भी यदि वे अपने को पैनी बुद्धि वाला मानते हैं तो ज्ञानो जन संकेत [illegible] हैं कि यह बुद्धिमत्ता का कार्य नही है। वे यदि अपनी शक्तियों को आन्तरिक जीवन को समुन्नत बनाने में लगाते हैं तो वे एक न एक दिन आन्तरिक [illegible] के स्वामी बन सकते है। तब उनके सामने बाहरी उपलब्धियां [illegible] रहेगी। उसके मन के शत-शत दीप इस तरह जल उठेंगे [illegible]

जीवन ही नहीं, जन-जन प्राणियों के जीवन जगमगा उठेंगे और [illegible] यही बुद्धिमत्ता का कार्य है।

भगवान महावीर की अन्तिम देशना :

भगवान् महावीर के समय में भी गणतन्त्र था, लेकिन आज के गणतन्त्र से उस गणतन्त्र के स्वरूप में अन्तर था। उस समय नौ मल्ली और नौ लिच्छवी — ऐसे अठारह गणराज्य थे। उनके गणनायक चेटक महाराज थे। वे भगवान् महावीर के अनन्य भक्त थे। उनकी भक्ति कोरी दिखावटी नहीं बल्कि प्रमित रूप से निष्ठा-सम्पन्न थी। वे भगवान् के दर्शन करते और उनके प्रवचनों को यथावसर हृदय में उतारते थे। गणनायक के पद का उनके मन में कोई गुमान नहीं था। वे महावीर का अनुयायी होने में अपना महाभाग्य समझते थे। वे राज-काज भी सम्हालते थे और धार्मिक कार्यों में भी कहीं हीन नहीं रहते थे। वे बारह व्रतधारी श्रावक थे और सम्यक् श्रद्धान रखते थे। वे ध्यान रखते थे कि भगवान् के प्रवचनों का अवसर कब और कहां मिलने वाला है ?

चेटक महाराज को यह तथ्य ज्ञात हो चुका था कि प्रभु महावीर का यह अन्तिम चातुर्मास है, इसलिये इस समय का पूरा लाभ ले लेना चाहिये। भगवान् की सेवा में वे ही नहीं आते, किन्तु अन्य राजाओं और सभी [illegible] को भी साथ में लाते थे। जब हस्तिपाल महाराज ने अपने [illegible] का प्रश्न [illegible] अर्थ स्पष्ट कराया, तब चेटक महाराज भी मौजूद थे। अर्थ सुन समझ कर हस्तिपाल ने संसार का परित्याग कर दिया। अब प्रभु के अन्तिम वर्षावास-प्रवचन स्थल पर सामान्य से लेकर बड़े-बड़े भूपालों और [illegible] की भीड़ लग गई, जो प्रभु की अन्तिम देशना को श्रवण करने के लिये उत्सुक थे।

प्रवचन [illegible] लेने [illegible] के [illegible] अभिलाषी थे। प्रभु महावीर की अन्तिम देशना का प्रसंग प्रारम्भ होने वाला था। उस समय घटा-टाटा घटनाएं भिन्न-भिन्न दृष्टि से घटी तथा ऐसे [illegible] का निर्माण हुआ, उस जनता की भी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

के कारण हो गया था ; वेदनीय कर्म के उदय से उन अमंगलकारी गतिविधियों के असर से जब भगवान् को खून की दस्ते होने लगी तो भक्त जन घबरा गये। उस समय दु खित भक्तो को समाधान देते हुए भगवान् ने वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया जिससे जन समुदाय को उनके अन्तिम समय की जानकारी हो गई।

निर्वाण के प्रसग की जानकारी से सभी भगवान् की अन्तिम देशना को सुनने के लिये लालायित हो रहे थे। महावीर प्रभु कृतकृत्य हो चुके थे और उन्होने सभी सिद्धिया प्राप्त कर ली थी। फिर भी जनता को दिशा-संकेत के लिये उन्होने वेले का तप ठाया। उनकी अन्तिम देशना सूत्र विपाक तथा उत्तराध्ययन सूत्र के रूप मे प्रकट हुई। उनका प्रवचन चलने लगा कि आत्मा के लिये सुख विपाक और दु ख विपाक का क्रम कैसे चलता है तथा सुख और दु ख का स्वरूप क्या होता है ? उन्होने बताया कि जो सुख के उपायो को नही अपनाता है और विपरीत व्यवहार करता है तो वह दु ख के कारणो को पैदा कर लेता है। उसके बाद उन्होने यह भी बताया कि दु खपूर्ण फल कैसे होते हैं? उसके पश्चात् उत्तराध्ययन सूत्र, जिसमे ३६ अध्ययन है, का उन्होने कथन फरमाया जो अपुठ्ठ वागरणा के रूप मे लिया जाता है।

गणधर गौतम की कसौटी :

अन्तिम देशना का प्रसग चल ही रहा था कि उधर प्रशस्त राग क एक प्रसग भी पैदा हो गया। जो वास्तव मे अनुशासन का प्रसग था। कविता की कडियो मे उसका वर्णन किया गया है—

चरम समय जाणी जगनाथा,
चिन्ते अहो गौतम मुझसा था,
रखे धर्म स्नेह मुझ माही,
स्नेह तोडे विना केवल कैसे पामिया जी,
वीर अन्तिम धर्म देशना देकर मोक्ष पधारिया जी।

प्रभु ने अपने ज्ञान के अन्दर देखा कि मैंने जिस चर्तुविध सघ की स्थापना की है, उसकी गणनायक रूपी मुख्य आधार भूमिका आत्मा है और यह आत्मा धर्म स्नेह के रूप मे कितनी ओतप्रोत है—यह मैं जानता हूं, यह भी मेरे साथ है। लेकिन दसवे गुणस्थान के नीचे की कक्षाओ से ऊपर बढ़ने वाले प्रशस्त राग से आत्मा वीतरागता के नजदीक पहुचती है। दसवें गुणस्थान तक प्रशस्त राग होता है। लेकिन आगे जब वीतरागता प्राप्त करनी होती है तो उसका वर्गीकरण करना आवश्यक होता है। तीसरी मंजिल तक जाने के लिये नीचे

मे ऊपर सीढियो से ऊपर ही जाना पडता है। ऊपर हम नही पहुँचे [illegible]
सीढियो की आवश्यकता रहती है। वैसे ही वीतरागता तक नही पहुँचे [illegible]
प्रशस्त राग की आवश्यकता है। ऐसी ही उन्नत अवस्था की स्थिति [illegible]
मे गौतम स्वामी की थी।

महावीर प्रभु की दृष्टि गौतम स्वामी पर [illegible] [illegible] थी। [illegible]
उन्नत अवस्था प्रभु के केवल ज्ञान मे तो थी ही, लेकिन संसार को समझाने के
लिये उन्होने एक कार्य किया। उस समय निर्वाण [illegible] का [illegible] [illegible]
रहा था। तब प्रभु ने गौतम स्वामी से कहा—गौतम, [illegible] मे [illegible] [illegible]
देव शर्मा रहता है, उनको तुम्हे अभी ही बोध देना है। इतना [illegible] [illegible]
ही गौतम उसी समय खडे हो गये और भगवान् को [illegible] [illegible] [illegible]
साथ देव शर्मा के घर की ओर चल पडे। सारा जन समुदाय जान [illegible] था
कि यह महावीर प्रभु का अन्तिम समोवसरण है, इसलिये कोई भी भगवान् की
समीपता छोडना नही चाहता था, लेकिन गौतम स्वामी ने भगवान् की आज्ञा
को शिरोधार्य की। वे जानते थे कि भगवान् की आज्ञा की पालना ही [illegible]
जीवन का ध्येय है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अतिशय ज्ञानी प्रभु ने जिसमे [illegible] [illegible]
देखा है, वैसी ही आज्ञा मुझे दी है तथा इस आज्ञा का पालन करना ही [illegible]
लिये श्रेयस्कर है। जो बडों की आज्ञा का पालन किसी तर्क या [illegible] [illegible]
साथ करता है, वह वास्तव मे आज्ञा का पालन नही है। गौतम स्वामी [illegible]
भगवान् से तर्क कर सकते थे कि अभी नही, आपकी अन्तिम देशना [illegible]
जाने के बाद देव शर्मा को प्रतिबोध दे आऊंगा, लेकिन आज्ञा के पालन मे
ऐसा करना समुचित नही होता है। आज्ञा का पालन पूर्ण रूप से [illegible]
जाना चाहिये। भगवान् के अनुशासन का पालन गौतम [illegible] [illegible] [illegible]
मे किया—यह आदर्श एवं अनुकरणीय प्रसग है।

कई लोग समझते होंगे कि भगवान् का [illegible] [illegible] [illegible] था, [illegible]
[illegible] अपने पास से हटाने के लिये देव शर्मा के यहा भेज दिया। [illegible]
[illegible] [illegible] है क्योंकि भगवान् तो [illegible] दशा मे [illegible] रहे थे और [illegible]
[illegible] मे [illegible] को प्राप्त करने वाले थे। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मे [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है। भगवान् ने गौतम स्वामी के [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

गौतम स्वामी के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तब शासन हितैषी इन्द्र ने निवेदन किया—भगवन्, अब आप मोक्ष पधारने वाले, हैं, लेकिन जिस समय आप मोक्ष पधारेंगे, उस समय आपकी जन्म राशि पर भस्म ग्रह का योग है जिसका आपके शासन पर शुभ प्रभाव नही होगा, इसलिये आप कुछ समय अधिक विराजने की कृपा कर। भगवान् ने कहा–इन्द्र, यह तुम्हारा इस आध्यात्मिक शासन के प्रति प्रशस्त राग है, लेकिन शासन का पचम काल मे जो भवितव्य है, वह तो घटित होगा ही। दूसरे, वीतराग स्थिति इस प्रशस्त राग के साथ नही जुडती कि आगे शासन का क्या होगा ? प्रभु के सकेत को इन्द्र समझ गये। वास्तव मे वीतराग तो सूर्य के प्रकाश और वायु की तरह मुक्त चिन्तन के साथ चलते है। उस शुद्ध अवस्था मे तटस्थता की भावना होती है।

मोक्षगमन की प्रक्रिया :

उधर महावीर प्रभु ने ३६ वा अध्ययन पूरा किया और उसके पूरा होते ही अगली प्रक्रिया चालू हो गई। आध्यात्मिक दृष्टि से चौदह गुणस्थान माने गये है। भगवान् ने अन्तिम वेला की दृष्टि से १३ वे से १४ वे गुणस्थान मे प्रवेश करने का समय देखा। उस समय वे पद्मासन मे विराजे तथा योग सम्बन्धी क्रियाओ मे तन्मय हो गये। शुक्ल ध्यान के चार भेद है, उनमे से दो भेद केवलज्ञान प्राप्त करने से पहले आते है तथा दो भेद केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद आते है। प्रभु की अन्तिम वेला की प्रक्रिया चल रही थी। बाहर स्थूल शरीर दिखाई देता है, लेकिन भीतर मे सूक्ष्म शरीर का भी प्रसग होता है, जो बाहर से दिखाई नही देता है। इसी प्रकार मन और वचन भी स्थूल और सूक्ष्म होते है। स्थूल मन, वचन, काया के भी योग होते है तथा सूक्ष्म मन, वचन, काया के भी योग होते है। इन दोनो प्रकार के योगो के रहते हुए मोक्ष नही हो सकता है। पहले स्थूल काया का रूप स्थिर किया जाता है, फिर स्थूल, वचन और मन को सूक्ष्म कर लेते है और उसके बाद आध्यात्मिक ज्ञान स्थूल काया से हटा कर सूक्ष्म स्थिति मे ले जाया जाता है। अन्तिम वेला से एक समय पहले जितने आत्मप्रदेश शरीर मे व्याप्त होते है, उन सबको वहा से हटा करके शरीर मे जितनी पोलार (अवकाश) होती है, उस पोलार को उन प्रदेशो से घनीभूत बना लेते है। तब अन्तिम वेला की स्थिति मे सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली जाती है। फिर कोई क्रिया अवशेष नहीं रहती है।

महावीर प्रभु भी अन्तिम वेला मे इस शरीर को स्थूल से सूक्ष्म करते हुए तथा शरीर एवं सभी प्रकार के योगों का परित्याग करते हुए मोक्ष पधार

गये और निरंजन निराकार हो गये। कार्तिकी अमावस्या की [illegible] के
समय उनका मोक्ष-गमन हुआ। इस प्रसंग से आते बने हुए, [illegible]
पहुंचने लगे। उस समय उनके रत्नजटित विमानों के प्रकाश में [illegible]
रात्रि तथा पावापुरी दोनों जगमगाने लगे।

भगवान् के मोक्ष पधारने की बात जब गौतम स्वामी को [illegible]
तो वे चिन्तन करने लगे कि हा! आज महावीर प्रभु मोक्ष में पधार गये। अब
मैं अपनी जिज्ञासाएं समाधान हेतु किसके सामने रखूंगा? [illegible]
अवस्था में छद्मस्थ व्यक्ति की क्या भावनाएं उठती हैं, उनका [illegible]
आया। कुछ क्षण तक ऐसी भावना चली और वे तत्क्षण उठ खड़े हुए।
चिन्तन की शुभ धारा में वे गुणस्थान की उन्नतर श्रेणियों में चढ़ने लगे। [illegible]
दिव्य ज्ञान में उन्होंने देखा कि महावीर प्रभु ने अपनी अन्तिम [illegible]
अपने समीप नहीं रखा, वह मेरे लिये भी तथा चतुर्विध संघ के लिये भी [illegible]
था। मैं उनके स्थूल शरीर के दर्शन नहीं कर सका, लेकिन उनके [illegible]
मैं सदा सर्वदा करता रहूं, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए। प्रभु के ज्ञान [illegible]
अंजन उनके आन्तरिक-नेत्रों में लगा ही था, दृष्टि दिव्य बन ही गई और [illegible]
समय उन्हें भी केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। तब सिद्ध आत्मा [illegible]
भगवान् के उन्होंने दर्शन कर लिये।

प्रभु महावीर—दीपावली :

गौतम स्वामी ने केवल ज्ञानी बनकर सिद्ध प्रभु महावीर के दर्शन
कर लिये, क्योंकि केवल-ज्ञानी सिद्धों को और सारे संसार को [illegible]
देखते हैं। वीतरागी का यह धर्म [illegible] का धन्धा है, उधार का नहीं। [illegible]
समझते हैं कि परलोक में जाने से दिव्य दृष्टि बनेगी, लेकिन आप [illegible]
ध्यान रखिये। इस भौतिक शरीर में रहते हुए जो आत्मा की [illegible]
वह इस जीवन में ही अनन्त सुख की प्राप्ति कर सकता है। [illegible]
में अनेक सुख की सृष्टि करो तो फिर परलोक का सुख भी प्राप्त [illegible]

दीपावली का वास्तविक अन्तर्ज्ञान क्या है ? यह दीपावली महावीर स्वामी के मोक्ष गमन से किस रूप मे आन्तरिक दृष्टि से सम्बद्ध है ? इस विषय पर दीपावली के प्रसंग से आत्मिक चिन्तन चलना चाहिए ।

दीपावली का अन्तर्ज्ञान यही है कि इस रात्रि में जागरण करके अन्तर्मन के कपाट खोलने का प्रयास करो । रात्रि का जागरण किस रूप में करें ? क्या ध्यान रखें कि अन्तर्मन के बन्द कपाट खुल जावे ? किस लक्ष्मी को याद करेंगे तो ये कपाट खुलेंगे ? स्थायी और सुखदाई लक्ष्मी है, आत्म-लक्ष्मी । यही लक्ष्मी अपनी साधना से केवल ज्ञान और सिद्ध स्थिति की उपलब्धि करा सकती है । यह आत्म-लक्ष्मी सभी सिद्धियों की स्वामिनी होती है ।

आपको कैसी लक्ष्मी चाहिये ? बाजार मे जाकर लक्ष्मी का चित्र ले आयेंगे जिसके हाथ से मुद्राएं बरस रही होती है और कहेगे कि ऐसी लक्ष्मी चाहिये । लेकिन असली लक्ष्मी कही बाहर नही आपके अपने भीतर ही है । उसे पहिचानने की बात है । विमलनाथ भगवान् की प्रार्थना में उच्चारण किया गया है —

चरण कमल कमला बसे रे, निर्मल स्थिर पद देख ।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख ।।

ज्ञानमय आत्मलक्ष्मी के दर्शन करने है तो वह प्रसंग आज दीपावली की रात्रि मे है । ज्ञानियो ने बताया है कि इस रात्रि मे पौषध मे रह कर जागरण करना चाहिये तथा आत्मलक्ष्मी का चिन्तन करना चाहिये । अगली रात्रि मे प्रतिक्रमण करने के बाद जाप करना चाहिये कि "महावीर स्वामी केवल ज्ञानी, गौतम स्वामी चउनाणी" तथा आधी रात्रि के बाद यह जाप करना चाहिये कि "महावीर स्वामी पहुचे निर्वाण, गौतम स्वामी को केवल ज्ञान ।" इस प्रकार सच्चे हृदय से भावलक्ष्मी का स्मरण करेंगे तो अन्त करण का अन्धकार अवश्य मिटेगा और वहां ज्ञान का प्रकाश अवश्य फैलेगा । यह मनो-वैज्ञानिक तथ्य भी है कि हृदय को अच्छी लगने वाली बात को बार-बार याद करें तो स्मृति के अज्ञात दरवाजे खुल जाते हैं, इसलिए यह जाप तन्मयतापूर्वक होना चाहिये ।

आराधना किस लक्ष्मी को ?

यो मानिये कि प्रकाश प्राप्त करने का यह दीपावली का दिव्य दिवस वर्ष मे एक बार आता है । किसी भी त्योहार का बाहरी आडम्बर महत्त्वपूर्ण

नहीं होता है। महत्त्वपूर्ण होता है उस त्यौहार का आन्तरिक उद्देश्य। दीपावली के भी आन्तरिक उद्देश्य को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये, जो स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक प्रकाश को प्राप्त करने का है।

दीपावली के दिन लक्ष्मीपूजा से सम्बन्धित जो आयोजन किये जाते हैं कि मिठाइयां मंगाओ, सजावट कराओ तथा घर के दरवाजे खुले रखो ताकि किसी भी समय द्रव्यलक्ष्मी का आगमन हो सके। ये सब आत्म-प्रवंचना के साधन हैं। आत्मलक्ष्मी के स्वरूप को नहीं समझ पाने का अज्ञान है। जो आत्म-लक्ष्मी की पूजा विधि समझ जाते हैं, वे इस दीपावली की दिव्यता को भी समझ जाते हैं।

लक्ष्मी की वास्तविकता का ज्ञान कराने वाली एक कथा प्रस्तुत कर दूं। एक धर्मात्मा सेठ था, जिसके यहां सात पीढ़ी से धन-सम्पन्न स्थिति चल रही थी। लक्ष्मी की कृपा थी। एक दिन लक्ष्मी ने सोचा कि इस तरह मैं एक ही जगह लम्बे अर्से तक बैठी रही तो मेरा नाम 'चंचला' सार्थक कैसे होगा? वह सेठ को रात्रि में स्वप्न में आई। उसने सेठ को कहा—अब मैं तुम्हारे घर से जा रही हूं। सेठ ने कहा—मुझे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मेरे पास वीतराग वाणी रूपी आध्यात्मिक लक्ष्मी है। लक्ष्मी यह सुनकर प्रसन्न हुई और कह गई कि मैं सात दिन बाद चली जाऊंगी। सेठ ने प्रातःकाल उठते ही अपनी सम्पत्ति के दानशील ट्रस्ट बना दिये और अपने ममत्व को समाप्त कर दिया। सारी व्यवस्था करके वह आध्यात्मिक लक्ष्मी की आराधना में प्रवृत्त हो गया। सारा परिवार स्थिति को समझकर धार्मिकता की ओर उन्मुख बन गया।

अब लक्ष्मी ने सोचा कि किस घर में जाऊं? वह सारे और घूमती रही, किन्तु उसे अपने अनुकूल स्थान नहीं दिखाई दिया। वह देवलोक में पहुंची। इन्द्र को उसने अपनी समस्या बताई। इन्द्र ने पूछा—कहीं भी तुम्हारे रहने की शर्तें क्या हैं? लक्ष्मी ने कहा—मेरी तीन शर्तें हैं। वे ये हैं—

"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्।
अदंतकलहो यत्र, तत्र शक्र, वसाम्यहम्॥"

पहली शर्त गुरुजनों की पूजा और सम्मान। दूसरी शर्त सुसंस्कृत धान्य हो याने कमाई और खर्च दोनों नीतिपूर्वक हों तथा तीसरी, जहां [illegible] भी दांत नहीं बजते हों याने कि कलह नहीं होता हो। इन्द्र ने [illegible]

कहा—क्या कही ऐसा घर मिल सकता है ? लक्ष्मी ने उत्तर दिया—मुझे दीखता है कि कलापूर्वक मुझे वापिस उसी सेठ के घर जाना पड़ेगा ।

अभिप्राय यह है कि जो आत्मलक्ष्मी को संस्कारित बना लेता है, द्रव्यलक्ष्मी तो उसकी दासी वन जाती है । आत्मलक्ष्मी को प्रकट करने से जो प्रकाश प्राप्त होता है, उसमे वाहर की तथा भीतर की सभी सिद्धियां उजागर हो जाती हैं । दीपावली उसी प्रकाश को खोजने और पाने का दिव्य दिवस है, क्योकि इसके आयोजन का मूल ही प्रकाशमय रहा हुआ है । लेकिन प्रकाश कैसा हो तथा उससे अपने अन्त:करण को कैसे प्रकाशित किया जाय—यह इस दिवस से प्रेरणा ग्रहण की जानी चाहिये ।

आत्मशुद्धि का पावन प्रसंग :

वाहर की शुद्धि क्या—यह तो आत्मशुद्धि का पावन प्रसंग है, वल्कि आत्मशुद्धि का सफल श्रीगणेश करके चरम तथा परम सिद्धि की यात्रा आरंभ करने का भी पावन प्रसंग है । जव आत्मशुद्धि का सकल्प वनेगा, तभी आध्यात्मिक लक्ष्मी की पूजा की सामग्री जुटाई जा सकेगी । वह सामग्री है—प्रात:काल भावपूर्वक प्रार्थना करना, व्याख्यान मे नियमित रूप से भगवान् की वाणी सुनना तथा उस वाणी के अनुरूप अपने सारे जीवन की शुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियो का निर्माण करना । इस सामग्री को जुटा लेंगे तो चरम सिद्धि की यात्रा भी प्रारम्भ कर सकेंगे । भगवान् ने इसी रात्रि मे चरम सिद्धि प्राप्त कर ली थी तो क्या उनके अनुयायी इसी रात्रि से चरम सिद्धि की यात्रा को भी प्रारम्भ नही करेंगे ?

भगवान् महावीर की अन्तिम देशना को अपने चिन्तन-मनन में लें तथा आध्यात्मिक लक्ष्मी के स्वरूप को अपने हृदय मे उतारें । इस दीपावली की रात्रि मे आज इस दिशा मे अपने चरण वढावें तथा अपने जीवन को मगलमय बनाने के मार्ग को प्रशस्त वनालें ।

मंगल वाणी

प्रभु महावीर की अन्तिम देशना के रूप में उत्तराध्ययन सूत्र का ३६ वा अध्ययन है । इसमे जीवादिक तत्त्वो का विशद रूप से विवेचन किया गया है । वैसे छत्तीसों ही अध्यायों का वस्तु-विवेचन जीवन के लिये कल्याणप्रद तथा हितावह है । जिन भव्य आत्माओ को अभी तक अन्य किसी शास्त्र में विशेष अध्ययन-मनन करने का अवसर नही भी आया हो, वे आत्माएं यदि इस उत्तराध्ययन सूत्र का मननपूर्वक वाचन करें और अर्थ के अनुसंधान को जीवन के साथ जोड़ें तो वे अवश्य ही महावीर प्रभु के बताये हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ सकती है ।

वैसे भी उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययनो का शब्दार्थ, भावार्थ तथा अर्थ विवेचन सन्त एवं सती-वर्ग समय-समय पर किया ही करता है लेकिन यह एक परम्परा चल गई है कि दीपमालिका के दूसरे दिन उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का वाचन किया जाय ।

दीपमालिका के दूसरे दिन इस सूत्र के वाचन की परम्परा का आधार यही है कि दीपमालिका के दिन भगवान् महावीर ने अपनी जिस अमृत वाणी का जगत् के कल्याण के लिये उच्चार किया, उस वाणी को दूसरे दिन स्मरण करना । इसका अभिप्राय यही है कि हम इस वाणी के माध्यम से भगवान महावीर के सम्पूर्ण आदर्श जीवन पर एक दृष्टिपात कर सकें तथा अंतिम देशना में कही गई वाणी को हृदयगम कर सकें ।

श्रद्धा के अविचल भाव :

उत्तराध्ययन सूत्र के वाचन की यह परम्परा दिखाती है कि महावीर प्रभु की वाणी के प्रति उसके अनुयायियो की श्रद्धा का कितना अविचल भाव होता है। अर्थ को समझने के साथ उसका चिन्तन मनन हो—यह तो श्रेष्ठ स्थिति होती ही है तथा इस स्थिति मे श्रद्धा से अभिभूत हो जाना स्वाभाविक होता है लेकिन जिन आत्माओ की समझ मे उसका अर्थ नही आ रहा है, फिर भी वे शान्ति और उत्सुकता के साथ इस सूत्र के वाचन का श्रवण करती है—यह उनकी प्रगाढ श्रद्धा का ही परिचय है। कई भाई-बहिन स्वयं सूत्र की पुस्तक हाथ मे रखकर पढने की चेष्टा करते है—यह भी उत्तम है, क्योकि सूत्र की पुस्तक सामने रहने से उसके अर्थ-शोधन का प्रयास सहज बन सकता है । वाचन और अर्थविन्यास का क्रम यदि साथ-साथ चलता रह सके तो यह परम्परा प्रतिबोध की दृष्टि से अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकती है । इस विधि से श्रद्धा भी ज्यादा गहरी और उद्देश्य-भरी बन सकती है ।

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा. फरमाया करते थे कि एक स्थल पर गीता के मूल श्लोको का वाचन हो रहा था। जब मूल श्लोकों का शीघ्रता के साथ वाचन होता है तो उस समय सस्कृत के विद्वान् भी शीघ्रता से उसका अर्थ समझ नही पाते है, जिनका बहुत बड़ा अवगाहन होता है, वे भले ही समझ सकते है। जहा श्लोको का उच्चारण हो रहा था, वहा एक गरीब भाई सभा के किनारे बैठा हुआ था । उधर विद्वान् लोग अर्थ विन्यास का चिन्तन कर रहे थे कि उनकी दृष्टि उस गरीब भाई पर पड़ी जिसका चेहरा बहुत ही प्रफुल्लित तथा बहुत ही भाव-विह्वल हो रहा था । यहा तक कि वह टकटकी लगाकर वाचन को सुन रहा था और उसकी आंखों मे से टप-टप आसू गिर रहे थे । एक बहुत बड़े विद्वान् ने सोचा कि इसको संस्कृत भाषा छोडकर वर्णमाला का भी ज्ञान नही है तो यह भला किस श्लोक के किस अर्थ को समझ पा रहा है और समझ नही पा रहा है तो फिर इस प्रकार द्रवित कैसे हो रहा है ? हम तो सस्कृत के विद्वान् है और इन श्लोको का अर्थ तथा मर्म भी समझते हैं, फिर भी हमको इतना आनन्द नही आ रहा है, जबकि इस भाई को आनन्दातिरेक हो रहा है। यह बिना पढा लिखा व्यक्ति आखिर किस आवेग से इतना द्रवित हो रहा है ?

जब वाचन पूरा हुआ तो उस विद्वान् ने उस गरीब भाई से पूछा—तुमने गीता के इस पाठ मे क्या सुना तथा तुम क्या समझे ? उसने उत्तर

दिया—सुना तो सभी जो बांचा गया, लेकिन समझा कुछ नहीं ? शब्द कानों में आ रहे थे, पंडितजी बोल रहे थे, पर पता नही क्या बोल रहे थे । मित्र ने फिर पूछा—फिर भी तुम हर्ष-विभोर हो रहे थे तथा तुम्हारी आंखों से आंसू गिर रहे थे—इसका क्या कारण है ? उसने कहा - यह सही है कि मैं गीता के श्लोकों का अर्थ नही समझ रहा था, लेकिन मैं एक ही कल्पना लेकर चल रहा था कि कर्मयोगी श्रीकृष्ण स्वयं गीता पढ रहे है और मै अर्जुन की सी निष्ठा और श्रद्धा लेकर स्वयं गीता का श्रवण कर रहा हूं । गीता जब बनी और उस समय जो कुछ हुआ, मेरी वह कल्पना साकार हो उठी और उसका वह साकार रूप ही मुझे हर्ष-विभोर बनाने के साथ द्रवित कर रहा था ।

इस रूपक के संदर्भ मे श्रावक और श्राविकाएं अपने अन्तःकरण मे भी झांक सकते है कि क्या वे भी उत्तराध्ययन सूत्र के वाचन के समय श्रद्धाभिभूत होकर हर्ष-विभोर बने हैं । क्या वे यह कल्पना करते है कि महावीर प्रभु अपने अन्तिम समवसरण मे उस वाणी का उच्चारण कर रहे है और वही वाणी उनको श्रवण करने के लिये मिल रही है ? क्या वे श्रद्धा के पुनीत भाव मे यह सोचते हैं कि जहां अपनी अन्तिम देशना मे भगवान् महावीर के बड़े-बड़े गणधर, बड़े-बड़े सन्त मुनिराज, बड़े-बड़े गणनायक तथा राजा महाराजा, देव और इन्द्र एवं श्रावक व श्राविकाएं उपस्थित थे, जो अपने सद्भाग्य से उस वाणी का श्रवण कर सके थे, हमारा भी सद्भाग्य है कि वही वाणी हमको भी इस समय श्रवण करने को प्राप्त हो रही है ।

वर्ष भर मे एक बार भी यदि इस वाचन को श्रावक और श्राविकाएं एकनिष्ठ श्रद्धा से सुनते हैं तो इस परम्परा मे नया जीवन आ सकता है क्योंकि यदि श्रद्धा से सुनेंगे तो हृदय के भावो मे पवित्रता अवश्य आयेगी और उससे भावशुद्धि की तरफ गति बनेगी । श्रवण करने के बाद शास्त्र के वाचन की अभिरुचि पैदा होगी और तब उसका अर्थ जानने की जिज्ञासा भी तीव्र बन सकती है । इस प्रकार सूत्र के गहरे अध्ययन तथा चिन्तन-मनन के क्षेत्र मे भी प्रवेश किया जा सकता है । श्रद्धापूर्वक श्रवण [illegible] उनकी निष्ठा का तो पोषण होगा ही, लेकिन उनको [illegible] प्राप्त होगी । निष्ठा के पोषण के साथ से आगे [illegible] यह [illegible] संकल्प बन जायगा कि जो नहीं समझ पाने वाली बातें भी [illegible] श्रद्धा [illegible] उनको सब समझने का प्रयास करें ।

सूत्र वाचन और श्रवण की परम्परा इस दृष्टि से स्वाध्याय के प्रति जागृति पैदा कर सकेगी । तब यह नियम सा बन जायगा कि प्रातःकाल कुछ न कुछ स्वाध्याय अवश्य नियमित रूप से किया जाय । उसमे चाहे वे सूत्र का अध्ययन करें अथवा सूत्राधारित वाणी जो सन्त मुनिराज फरमाते है, उनके व्याख्यानो का अध्ययन करे। स्वाध्याय के लिये यह जो समय निकाला जायगा वह सम्यक् ज्ञान प्राप्ति का मूलाधार बन सकता है ।

रत्नत्रय किंवा मोक्षमार्ग :

जब श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय किया जाता है तो अवश्य ही उस पर जिज्ञासा पूर्वक चिन्तन की प्रवृत्ति भी बनती है । चिन्तन के क्षणो मे सूत्र के शब्दो से उसके गूढ अर्थ मे प्रवेश किया जाता है और तब उस जिज्ञासु के हृदय मे सम्यक् ज्ञान का विशेष रूप से उद्भव होता है । सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान के सयोग से सम्यक् चारित्र्य की पुष्ट भूमिका का निर्माण होता है ।

यह सही है कि जीवन विकास तथा आत्मकल्याण के लिये आचरण मुख्य तत्त्व है, किन्तु उसके पहले आचरण किस रूप मे हो तथा किन तत्त्वों पर वह आचरण आधारित हो, यह जान लेना परम आवश्यक है । कोरी क्रिया से ही जीवन विकास नही होता है । आवश्यक है कि वह क्रिया सम्यक् ज्ञान पर आधारित हो । ज्ञानपूर्ण क्रिया ही उन्नति का सही मार्ग बताती है । जब सूत्र वाचन के प्रति श्रद्धा होगी, श्रद्धा से स्वाध्याय किया जायगा तथा विचार-पूर्वक चिन्तन किया जायगा, तभी सत्क्रिया को जगाने वाला ज्ञान प्रकाशित हो सकेगा । उस ज्ञान के साथ आचरित की जाने वाली क्रिया तब सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगी । यही रत्नत्रय की आराधना है और यही मोक्ष का मार्ग है । यथा.—सम्यग्दर्शन चारित्राणि मोक्षमार्ग ।

आचरण तभी श्रेष्ठ बन सकता है, जब वह ज्ञान से पुष्ट होता है। ज्ञान प्राण है—आत्मा है तो आचरण शरीर । शरीर दिखाई देता है और शरीर से कार्य होता है लेकिन तभी तक जब तक उसमे आत्मा रहती है—प्राण रहते है । शरीर का महत्त्व अपनी जगह पर होता है तो आत्मा का महत्त्व अपने स्थान पर होता है । आत्मा रहे और शरीर कार्यरत बने तभी कार्य निष्पत्ति होती है । इसलिये ज्ञान और क्रिया का मूल्यांकन समन्वित एव सन्तुलित दृष्टि से किया जाना चाहिये तथा यह दृष्टि स्वाध्याय एव चिन्तन मे जागृत बनती है ।

स्वाध्याय से स्वावलम्बन की भी उपलब्धि होती है । स्वाध्याय के

दो परिणाम सामने आते हैं। एक तो जो जो विषय अपनी समझ में आ जाता है, वह मजबूती से दिल दिमाग मे जम जाता है और आचरण में उसका बराबर ध्यान रहता है। दूसरे, जो-जो विषय समझ में नहीं आते हैं उनका जिज्ञासापूर्वक समाधान पाने की वृत्ति बनती है। जब भी सन्तों मुनिराजों का संयोग बैठता है तो वह उनसे समुचित समाधान प्राप्त करता है। फिर सकल विषय पर जब उसका चिन्तन चलता है तो उसे गूढ़ अर्थ की झलक मिलने लगती है। तब वह अपने चिन्तन की गहनता से शास्त्रों के गूढ़तर अर्थ में अवगाहन करने लग जाता है। तो वह [illegible] क्षेत्र में स्वावलम्बी तथा स्वतंत्र बन जाता है। फिर कभी सन्त मुनिराजों का संयोग बैठे या नहीं बैठे, तब भी वह स्वावलम्बनपूर्वक स्वाध्याय कर [illegible] तथा दूसरों को भी उस दिशा में साथ ले सकता है। सन्त-सतियों का पधारना न भी हो तो वह सूत्र वाचन के कार्यक्रम तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं के क्रम का भी निर्वाह कर सकता है। भोजन में भी [illegible] नियमितता उस दृष्टि से अपनाई जानी चाहिये ताकि मानसिक जीवन [illegible] सके और रत्नत्रय की आराधना से मनुष्य जीवन सार्थक हो सके।

वीतराग वाणी को मंगलमय वेला में स्वीकार करें :

वीतराग वाणी जैसी अमृत वाणी हो, उसको जीवन में उतारने के लिये मंगलमय वेला हो तथा उसके साथ हृदय की अविचल श्रद्धा, ज्ञान का आलोक एवं आचरण की निष्ठा जुड़ जाय तो फिर क्या कहना? जीवन में चरम एवं परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त बन जाता है। यह [illegible] की बात है कि भगवान् महावीर की वीतराग वाणी आज ढाई हजार से अधिक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सद्भाग्य से भव्य आत्माओं के लिये उपलब्ध है। इस वीतराग वाणी को मंगलमय वेला में स्वीकार करें।

स्वीकार करने का अर्थ तो समझ लिया है न? आप इसे मानें—यह स्वीकृति हुई। स्वीकृति श्रद्धा की प्रतीक होती है और जहां स्वीकृति हुई वहां उसका विशिष्ट ज्ञान करने की जिज्ञासा स्वत: ही उत्पन्न हो जाती है। तब स्वाध्याय और चिन्तन का क्रम चलने लग जाता है। श्रद्धा और [illegible] के बाद आचरणा की सहज रूप से गति बन जाती है। इसलिये [illegible] में स्वीकार करने का विशिष्ट और गंभीर महत्त्व है।

[illegible] मेरा आशय है कि इस [illegible] [illegible] करें, इस मंगलमय [illegible] [illegible] जीवन [illegible] के लिये [illegible] उपस्थित करें।

सत्पुरुषार्थ परमात्म तक

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं................

सच्ची श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान के संयुक्त प्रभाव से श्रेष्ठ आचरण की भूमिका का निर्माण होता है और इसी भूमिका से होती है पुरुषार्थ की प्रक्रिया । इसे ही परमात्म–मिलन की दौड का प्रारम्भ समझिये, क्योंकि सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र्य की त्रिपुटी ही परमात्म स्वरूप से साक्षात्कार कराती है ।

आत्मा को जो यह मानव शरीर मिला है, वह इस त्रिपुटी की साधना का सुदृढ सम्बल होता है । इसी शरीर की शक्ति को भोग मे भी बर-बाद किया जा सकता है तो इस शारीरिक शक्ति से योग की श्रेष्ठ साधना भी की जा सकती है ।

शरीर निर्माण विधि :

प्राणी जब शरीर की यथायोग्य पर्याप्तियो को प्राप्त कर लेता है तो उसका गतिक्रम चालू हो जाता है । गतिक्रम के चालू होने का अर्थ है कि मानव शरीर की पुरुपार्थ की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है । यह पुरुपार्थ की प्रक्रिया शरीर की शक्ति को सचालित करने वाली होती है ।

शास्त्रकारो ने छ पर्याप्तिया बताई हैं—१. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ श्वासोश्वास पर्याप्ति, ५. भाषा (वचन) पर्याप्ति तथा ६. मन पर्याप्ति । आहार वर्गणा, शरीर वर्गणा, इन्द्रिय वर्गणा, भाषा

वर्गणा और मनोवर्गणा के परमाणुओ को शरीर तथा उनके अंगोपांग व इंद्रिय आदि के रूप में परिवर्तित करने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। जब हम यह कहें कि पर्याप्तिया पूर्ण हैं तो उसका मतलब यह होगा कि शरीर की शक्ति पूर्ण है।

जब कभी भी यह आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने की तैयारी करती है तो जैसे ही पुराना शरीर छोड़ा नहीं कि वह अन्तर्मुहुर्त के अन्दर-अन्दर दूसरे शरीर के साधन को जुटा लेती है। जिस नये शरीर को बनाने की तैयारी होती है, उस योनि और उस शरीर में जा पहुंच जाती है। वह आत्मा अपने तैजस शरीर के माध्यम से सबसे पहले उस योनि मे रहने वाले आहार को ग्रहण करती है, जिस आहार की सहायता से शरीर की रचना शुरू होती है। वह आहार जब नियमित रूप से ग्रहण किया जाता है तो उसका वर्गीकरण होता है। जिस शक्ति से जीव बाहरी आहार पुद्गलों को ग्रहण करके खल भाग व रसभाग मे परिणमाने, उस शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं। यह प्रथम पर्याप्ति है और शरीर को सर्व प्रथम उपलब्ध होती है।

आहार का खल भाग व रसभाग के रूप मे विभागीकरण होने के बाद शरीर रचना का क्रम प्रारम्भ होता है।

जिस शक्ति से जीव आहार के रस भाग को रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, शुक्र रूप सप्त धातुओं मे परिणमाता है उसकी पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

सप्त धातु रूप मे परिणत आहार से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का निर्माण होता है।

जिस शक्ति से आत्मा धातु रूप परिणत आहार को स्पर्श (त्वचा) रस (जिह्वा), घ्राण (नासिका), चक्षु (नेत्र), श्रोत (कान) इन्द्रिय रूप में परिणत करे, उसकी पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

इस प्रकार तीन पर्याप्तियों का कार्य सम्पन्न होने पर इन्द्रियों को वायु का खुराक देने के लिये श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता होती है। जिसके द्वारा वायु का शरीर मे ग्रहण, निस्सरण व उपयोग परिणमन हो सकता है उस श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का यह सम्बन्ध है।

जिस शक्ति से आत्मा उच्छ्वास योग्य वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण

करके उसास रूप परिणत करके उसका आधार लेकर तथा उसका सार ग्रहण करते हुए उसे वापस छोड़ता है, उसकी पूर्णता को श्वासोश्वास पर्याप्ति कहते है।

श्वासोश्वास की गति के पश्चात् बोलने की शक्ति का प्रकटीकरण होता है।

जिस शक्ति से जीव भाषा अर्थात् शब्दों के मेटर को ग्रहण करके, भाषा रूप मे परिणमाते हुए उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप मे छोडे, उसकी पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते है। अन्त मे (द्रव्य) मन की रचना होती है जो कि सकल्प-विकल्प के रूप मे प्रकट होता है।

जिस शक्ति से मनोयोग्य पुद्गलो को ग्रहण कर मन रूप मे परिणमन करे और उसकी शक्ति विशेष से उन पुद्गलों को पीछा छोडे उनकी पूर्णता को मनः पर्याप्ति कहते हैं।

इस प्रकार से छहो पर्याप्तियो की रचना होती है।

पुरुषार्थ की प्रक्रिया :

ये छः पर्याप्तियां जिन-जिन प्राणियो को प्राप्त होती है, वे संज्ञी प्राणी कहलाते हैं। इन सज्ञी प्राणियो मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ होता है। इन छः पर्याप्तियो की पूर्ति हो जाने के बाद उस शरीर मे पुरुषार्थ की शक्ति सक्रिय बनती है तथा पुरुषार्थ की प्रक्रिया कार्यरत होती है।

पर्याप्तियो की प्राप्ति के बाद गर्भ मे ही कुछ न कुछ प्रक्रियाएं चालू हो जाती है और एक बालक जन्म लेने पर जब ससार की नई सृष्टि को देखता है—वैसे तो उस आत्मा ने इस सृष्टि को अनादिकाल से देखी होती है लेकिन नये सिरे से जन्म लेकर सृष्टि को नये सिरे से देखती है क्योकि पहले की देखी हुई विस्मृत हो जाती है तथा ससार के अनेकानेक पदार्थों को देखने का प्रसंग आता है तो वह बालक उन्हे प्राप्त करने का अपना पुरुषार्थ प्रारभ करता है। आपने एक छोटे बच्चे के हालचाल देखे होगे। थोडी सी समझ आते ही वह पसन्द की चीज को पकडने की कोशिश करता है बल्कि हर चीज को पकडने लगता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो इस प्राणी जगत् मे चालू रहती है और इस प्रक्रिया को सक्रिय करते हुए वह जल्दी बाहरी विकास कर लेता है। यह बाहरी पदार्थो के लिए पुरुषार्थ करने की बात है, लेकिन यही पुरुषार्थ जब विचारपूर्ण बनकर आत्मोन्मुखी बनता है, तब आतरिक विकास आरम्भ होता है और भीतर की गतिविधियो को समझने की क्षमता उसमें

उत्पन्न होती है ।

वस्तुतः पुरुषार्थ की प्रक्रिया एक शक्ति रूप होती है । उस शक्ति का स्वेच्छानुसार सदुपयोग व दुरुपयोग हो सकता है । एक तलवार से किसी की रक्षा भी की जा सकती है तो किसी की घात भी । यह शक्तिधारी की मनो-वृत्ति का प्रश्न है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग किस प्रकार से करता है ? यही पुरुषार्थ की शक्ति के उपयोग की स्थिति है । पुरुषार्थ जब बाहरी पदार्थों की प्राप्ति के लिये किया जाता है तो समझना चाहिये कि उस प्राणी का ध्यान संसार की ओर अधिक है, आत्मा की ओर कम या नहीं है । उस प्रकार की मनोवृत्ति से वह किसी भी मनवांछित पदार्थ को प्राप्त करने के लिये भयं-कर से भयंकर विपदा को सहन करने के लिये भी तैयार हो जाता है । पदार्थ को पा लेना उसके हाथ की बात नहीं है, लेकिन पा लेने की वह भरपूर कोशिश करता है, प्रयत्न ही पुरुषार्थ का मूल विषय होता है ।

पुरुषार्थ की दिशा में भी परिवर्तन अनुभव के बाद होता है । प्राणी जब विभिन्न प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता है और उन्हें प्राप्त भी कर लेता है । लेकिन जब उन्हें प्राप्त कर लेने के बाद में भी उसे उन पदार्थों से तृप्ति या सन्तुष्टि का अनुभव नहीं होता है तो उसकी विचार शक्ति प्रखर बनती है और वह सोचता है कि वह अपने सफल पुरुषार्थ के बाद भी सुखी क्यों नहीं बन रहा है ?

पुरुषार्थ की सही दिशा :

जब अनेकानेक बाहरी पदार्थों के भोग-परिभोग के उपरान्त भी [illegible] मनुष्य को उनके द्वारा शान्ति और सुख का अनुभव नहीं होता है तो वह शान्ति और सुख की अनुभूति के लिये नई-नई खोजें करता है । इन नई-नई खोजों में पुरुषार्थ की प्रक्रिया भी चलती है, लेकिन उसकी दिशाओं में भी परिवर्तन होता रहता है । उसमें एक ही उद्देश्य मुख्य होता, वह सोचता है कि इनसे शान्ति नहीं मिली तो उनसे मिलेगी। इस तरह से मनुष्य का इस उद्देश्य के साथ जो पुरुषार्थ चलता है, उसको खोज का पुरुषार्थ कह सकते हैं ।

इसी खोज के पुरुषार्थ के दौरान उसको बाहरी पदार्थों के नश्वर [illegible] और उनसे पैदा होने वाले अशान्ति परिणाम भी दिखाई देते हैं, [illegible] बाहरी पदार्थों की [illegible] के कारण है । इन पदार्थों के [illegible], और अशान्ति और दुःख ही [illegible], तब इन पदार्थों से [illegible]

मुंह मोडने लगता है। तब उसे वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान भी होने लगता है। तब वह पाप से बचने की कोशिश करता है। यह उसके पुरुषार्थ की प्रक्रिया का दिशा परिवर्तन होता है।

महावीर प्रभु ने आचाराग सूत्र मे यह सकेत दिया है, आयकदसी न करेइ पावं, जो हिंसा आदि मे आतक देखता है, वह पापाचरण नही करता है, आचाराङ्ग, सूत्र ३/२। प्राणी आतक की दशा को देख करके भी पाप कार्यो से विलग होता है। यह तथ्य लौकिक व्यवहार मे भी आप देखते है। जिसकी आदत चोरी या अन्य प्रकार के अपराध करने की पड़ जाती है, उसको पुलिस जब पकडकर उसकी पिटाई करती है, बिजली के करन्ट देती है या अन्य यातनाओ का उस पर प्रहार होता है तो उस समय उस अपराधी का मन आतक से दब जाता है। वैसी मन.स्थिति मे वह उन अपराधो को छोड देने का निश्चय कर सकता है। इस आतंक का प्रभाव जगली और खूंखार जानवरों पर भी पडता है। जगल मे सिंह जब गर्जना करता है तो वह गर्जना कितनी भयावनी होती है, लेकिन वही सिंह जब पिंजरे में बन्द होकर बिजली आदि के चावुक से आतकित हो जाता है तो मनुष्य के इशारो पर सरकस मे तरह-तरह के खेल करता है। इसलिये शास्त्रकारो ने कहा है कि आतक की दशा मे भी प्राणी पाप कार्य नही करता है। जब ससार मे तरह-तरह की परिस्थितियां सामने आती है तो कई बार यह आतक भी आत्मा के लिये सार्थक बन जाता है। जैसे दड शिक्षाकारी भी होता है, वैसे ही आतंक के प्रभाव से आत्मा की गति पाप से हटकर धर्म की तरफ मुड जाती है। जिस वेग से वह संसार के पदार्थो को पाने के लिये पुरुपार्थ कर रहा होता है, उसका उतने ही या उससे भी तेज वेग से पुरुपार्थ आंतरिक तत्त्वो की प्राप्ति मे प्रयुक्त हो जाता है। तब उस पुरुपार्थ की प्रक्रिया की दिशा बदल जाती है तो वह आत्म-विकास की दिशा में सक्रिय बन जाती है। तब वह मनुष्य अपने भीतर के जीवन को देखता है और आंतरिक खोज मे लग जाता है। वह सोचता है कि उसको अन्त.करण की ऐसी शक्ति मिल जाय कि ससार के समस्त भयों तथा आतंकों से उसको छुटकारा मिल सके। पुरुषार्थ के दिशा परिवर्तन से उसको सुख और शाति की अनुभूति होने लगती है।

पुरुषार्थ आत्मदर्शन का :

ससार की विचित्र दशाओ से छुटकारा पा लेने की मनुष्य की अभिलाषा जब दृढ बन जाती है तो उसकी पुरुपार्थ की प्रक्रिया आत्मोन्मुखी हो जाती

है। आत्मा के स्वरूप को देख सकने के लिये सब ज्ञानीजन कभी-कभी भगवान की स्तुति के प्रसंग से आंतरिक गतिविधियों को स्पष्ट कर देते हैं। ज्ञानीजन का ऐसा संयोग उसके लिये आत्म जागरण की अवस्था को सामने ले आता है। परमात्मा की प्रार्थना के प्रसंग मैंने जिस पंक्ति का उल्लेख किया है—'धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं....' वह धर्म-पुरुषार्थ को प्रोत्साहित करने वाली है। प्रार्थना में आगे कहा गया है कि—

धरम-धरम करतो जग सहु फिरे,
धरम न जाणे हो मर्म।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्यां पछी,
कोई न बांधे हो कर्म॥

दोड़त- दोड़त —दोड़त— दोड़ियो,
जेती मन नी रे दोड़।
प्रेम प्रतीत विचारो ढूंकणी,
गुरुगम लीजो रे जोड़॥

सब पुरुषार्थ की प्रक्रिया आत्मोन्मुखी बन कर धर्म जिनेश्वर [illegible] (स्वरूप) ग्रहण करने की ओर आगे बढ़ती है यानि कि परमात्म-मिलन की दोड़ में दौड़ती है। क्या आप दौड़ना जानते हैं? यह सभी जानते हैं कि दौड़ पावों से लगाई जाती है। बच्चे जब स्कूलों में प्रतियोगिताएं होती हैं [illegible] पुरस्कार मिलते हैं तो दौड़ लगाते हैं। वैसे ही परमात्मा को [illegible] आत्म-स्वरूप को पाने के लिये दौड़ लगाई जाती है। [illegible] दौड़ [illegible] की होती है।

ही जाता है। जैसे एक मयूर नाचता है—अपने सुन्दर पंखों को देखकर बहुत हर्षित होता है और सोचता है कि मैं कैसा सुन्दर दीखता हूं एवं कितना सुन्दर नाचता हूं। लेकिन जब वह अपने पैरों की तरफ देखता है तो हैरानी महसूस करता है। वैसे ही भगवान् के भक्त-भगवान् को पाने के लिये बहुत दौड़ लगाते है। लेकिन जब वे भगवान् के दर्शन नहीं कर पाते है—अर्थात् आत्मा से साक्षात्कार नही कर पाते है तो उनका उत्साह शिथिल हो जाता है। तब मन मे प्रश्न उठता है कि परमात्मा कहां है और उनसे मिलन कैसे हो सकेगा ?

आत्म-प्रीति से 'प्रतीति'—

कवि संकेत देते है कि जहां परमात्मा को प्राप्त करने की जिज्ञासा हुई, वही वे मिलेगे। जिज्ञासा कहां होती है ? यह जिज्ञासा अन्तर्मन मे-आत्मा की गहराई मे पैदा होती है तो समझिये कि आत्मा की उसी गहराई मे परमात्मा का मिलन हो सकेगा। किसी के साथ तब मिलन होता है जब उसके साथ प्रीति सच्ची होती है। परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति होगी तो आत्मा के साथ भी सच्ची प्रीति होगी। आत्मा के साथ सच्ची प्रीति उसके विकास का कारण बनेगी तो परमात्मा के साथ मिलन स्थिति भी वही बनायेगी। इसलिये परमात्मा कही बाहर नही, भीतर मे ही मिलेगे क्योकि आत्मस्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण हो जाना ही परमात्म-पद को पाना है। कवि कहता है—"प्रेम प्रतीत विचारो ढूंकड़ी, गुरुगम लेजो रे जोड़।" अर्थात् जिस शरीर को लेकर बैठा है, पैरों से दौड रहा है, मन को भी दौड़ा रहा है-परमात्मा को अन्यत्र कहा खोज रहा है ? वह तो अन्तर्यामी है, इसलिये भगवान् को अपने अन्तर्मन से पकड़ तथा अन्तःकरण में ही उनको प्रतिष्ठित कर।

दुनियां भगवान् के नाम पर माला फेरती है और रट लगाती है, लेकिन कहा गया है कि—

> राम नाम सब कोई कहे, ठग, ठाकुर और चोर।
> सच्ची प्रीति बिना कभी, रीझे ना नदकिशोर ॥

राम या कृष्ण या महावीर किसी का नाम मात्र ले लेने से कार्य नही होता है। परमात्मा के प्रति अन्तर्मन से सच्ची प्रीति जागनी चाहिये। यह सच्ची प्रीति ही आत्मा के प्रति होती है। आत्मा के प्रति प्रीति-प्रतीति मे बदलती है और आत्म-विश्वास को सुदृढ बना देती है। आत्म-विश्वास सुदृढ़ बनता है तो प्रत्येक साधना सुगम बन जाती है। जहां स्वस्थ आत्मा का निवास होता है वही परमात्मा का निवास होता है। आत्मा को पा लेंगे तो परमात्मा को भी अवश्य पा लेंगे।

जिनको अपनी ही आत्मा पर विश्वास नहीं होता है तो वह भले दिमागी कसरत करता रहे, दर्शन शास्त्रों की खाक छानता रहे या अन्य कितनी ही मजाकट करता रहे फिर भी उसको तीन काल में भी परमात्मा के दर्शन होने वाले नहीं हैं। इसलिये जीवन का मूल जो आत्मा है, उसके प्रति, उसके प्रति प्रीति और प्रतीति होनी चाहिये। यह आत्म-विश्वास अन्दर की प्रबल जिज्ञासा से बनता है। अन्दर की प्रबल जिज्ञासा होती है यह जानने की कि मुझे उठाने-बैठाने वाला कौन, सत्संगत में ले जाने वाला कौन, प्रभु का नाम लिवाने वाला कौन और जीवन को चलाने वाला कौन? मैं स्वयं कौन हूँ आदि इसका ज्ञान जब उस आत्मा को हो जाता है तो आत्मविश्वास स्वयमेव सुदृढ़ बन जाता है। लेकिन यह ज्ञान स्वाभाविक तौर पर अक्सर सबके भाग्य को नहीं होता है जैसा कि भगवान् महावीर ने कहा है—

इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ

इस प्रकार का कुछ मनुष्यों को ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि आत्मा मोहकर्म के जाल में इतनी उलझी हुई होती है कि उसे स्वयं का भी भान नहीं होता है। मोहकर्म एक नशे जैसा होता है जो आत्मा को बेभान रखता है— उसके स्वभाव को उभरने नहीं देता, उसको विभाव में भटकाता रहता है। आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार स्वभाव की स्थिति में रहने पर ही हो सकता है।

पुरुषार्थ से आत्मबोध हो—

आत्म-विस्मृति का सबसे बड़ा कारण होता है मोह। [illegible] मोहित करता है संसार के जड़ पदार्थों की तरफ तथा उसे अपनी ही [illegible] दूर फेंक देता है। आत्म-विस्मृति की अवस्था में पुरुषार्थ शिथिल रहता है अथवा विकृत हो जाता है। ऐसा पुरुषार्थ इस आत्मा का साधक नहीं रहता है। सही पुरुषार्थ वास्तव में पुरुषार्थ कहलाता है जो आत्मा के हित में [illegible] है। ऐसे पुरुषार्थ की प्रक्रिया जब चलती है तो मोह के बंधन टूटते [illegible] और आत्मा, आत्म-विस्मृति से आत्म प्रतीति की दिशा में अग्रसर बनती है।

[illegible] विचार क्या आप है जो कि आपको [illegible] से [illegible] आचार्य [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] में उनकी सेवा से [illegible] 'अरहन्त' [illegible] [illegible] आज [illegible] में जागरण कर रहे हैं, [illegible] [illegible] [illegible] का बड़ा कारण है? इस संदर्भ में गुरुमूर्ति ने [illegible]

वह कथा उनको सुनाई जिससे उनके मन में भय बैठा हुआ था। कथा सुना-कर मुनिसुव्रत कहने लगे-अभयकुमार जी, क्या बताऊं, उस समय की दशा कुछ और थी एवं आज की दशा कुछ और है। उस समय भी एक बन्दर ने आकर देवता की तरह मेरी सहायता की। मेरी पत्नी को मैं चोरों के सरदार के यहां से उठा लाया, किन्तु वह वापिस आया और पत्नी को भी वापिस ले गया तथा मुझे मारपीट कर बांध गया। तब वह बन्दर आया था जिसने मुझे पानी पिलाया, जड़ी-बूटियों का रस दिया और मुझे बंधन से छुड़ा कर चंगा कर दिया। उसने बताया था कि वह पहले जन्म में हमारे गांव में रहने वाले वैद्य-राज का ही जीव था। उस बन्दर ने अपनी राम कहानी सुनाई थी जिसका आशय यह था कि यथासमय जो जीवन की गतिविधियों में शुभ परिवर्तन नहीं ला पाता है, वह अन्ततोगत्वा अपनी गति बिगाड़ लेता है। मोह आदि विकार शुभता के शत्रु होते हैं जो जीवन को शुभता में ढलने नहीं देते। यह कहते हुए सुव्रतमुनि ने कहा कि उस समय की दशा में भी एक बन्दर की राम-कहानी बडी विचित्र मालूम हुई थी और आज के समय में भी एक बन्दर की ही रामकहानी दिखाई देती है, लेकिन उसका कोई विवरण मुझे ज्ञात नही हो सका है। उन दोनों समयों में बन्दर जाति की मौजूदगी एक रूप से रहने के कारण मेरा पुराना भय उभर आया। सुव्रतमुनि का कथन और आगे चलेगा लेकिन यहां समझने योग्य वस्तु-विषय यह है कि जो भी इस जीवन में पुरु-षार्थ की प्रक्रिया की जाय, वह आत्मस्वरूप को भुलाने वाली नहीं, बल्कि उस स्वरूप के प्रति अमित विश्वास जगाने वाली होनी चाहिये। जब आत्मविश्वास भरपूर होता है तो संसार का कोई भी भय या आतंक आत्म-विश्वासी व्यक्ति को भयभीत नही बना सकता है। आत्म-विस्मृति से आत्मप्रतीति की ओर आगे बढना पुरुषार्थ की सफल प्रक्रिया से ही सम्भव हो सकता है।

परमात्म प्राप्ति-प्रक्रिया—

पुरुषार्थ आत्मा का जब स्वभाव रूप बनकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होता है, तभी वह सत्पुरुषार्थ कहलाता है। उसको आत्म-पुरुषार्थ कह सकते हैं। ऐसे आत्म-पुरुषार्थ की सार्थकता इसी उपलब्धि मे है कि उसकी सहायता से आत्मस्वरूप को पहिचान लें, आत्मशुद्धि की दिशा मे आगे बढें तथा आत्मा को सर्वप्रकारेण विकारमुक्त और परम शुद्ध बनाकर परमात्म-स्वरूप को वरण करें। तभी यह कहा जा सकता है कि हमारी आत्मा भी धर्मनाथ परमात्मा के गुण गा रही है और गुण ही क्या गा रही है, बल्कि उनके रंग में ही रंग रही है। यह जो परम रूप मे रंग जाना है, वही परमात्म-मिलन अर्थात परमात्म स्वरूप

की पराकाष्ठा है ।

क्या आप भी मिलना चाहते हैं परमात्मा से ? कहने को सहज कह देंगे या भावना-पूर्वक भी कहेंगे कि हां, परमात्मा से अवश्य मिलना चाहते हैं, लेकिन आप भली-भांति अपने लौकिक व्यवहार के अनुसार भी जानते हैं कि क्या कहने मात्र से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है ? कहने के अनुसार काम करने की जरूरत होती है । ज्ञान दृष्टि देता है, लेकिन आचरण गति देता है । दृष्टि और गति दोनों का जीवन में समन्वय बैठना चाहिये । दृष्टि लंगडी होती है और गति अंधी । दृष्टि देख सकती है लेकिन चल नहीं सकती । दूसरी ओर गति चल सकती है लेकिन देख नहीं सकती है । यदि दृष्टि और गति में शुभ समन्वय नहीं होता है तो देखना और चलना सभी अधूरा रहता है । दृष्टि देखे और गति को निर्देशित करे, तब विकास के मार्ग पर सही-सही चला जा सकता है । यह जो विकास की यात्रा है, वही आत्म-स्वरूप को पहिचानने याने कि परमात्मा से मिलने की यात्रा है । इस यात्रा के लिये सभी तरह से अपनी कमर कसिये ।